

होम का अनिवार्य साधन होने से होम का प्राधान्य सक्तु में उपचरित है, अतः यहाँ द्वितीया प्रवृत्त हुई। होम का सम्पादन कर सक्तु का प्रयोजन पूरा हो जाता है। आगे कुछ भी उत्पन्न करने के लिए वह षण्ढ है।

यदि होम-सम्पादन के लिए कर्त्ता को सक्तु ईप्सिततम है, तो द्वितीया विभक्ति के प्रयोग में कोई बाधा नहीं। परन्तु इस प्रसंग में प्रधानभाव और गुण-भाव का आधार अपूर्वोत्पादन है। अपूर्व का उत्पादक प्रधान, अन्य गौण है। इस प्रकार क्रियापदबोधय याग या होम ही प्रधान हैं; अन्य उनके साधनभूत द्रव्य आदि गौण हैं। 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों के विषय में दसवें सूत्र पर विवरण दे दिया गया है ॥१२॥ (इति सम्मार्जनादीनामप्रधानताकरणम्—४)।

(स्तोत्र-शस्त्रप्राधान्याधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—देवताओं का स्तवन और शंसन किया जाता है। क्या यह देवता के प्रति गुणभूत है? अथवा प्रधान है? स्रुचों के सम्मार्जन आदि के समान इन्हें भी गुणभूत क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावत् देवताऽभिधानत्वात् ॥१३॥

[स्तुतशस्त्रयोः] स्तवन = सामगान द्वारा स्तुति, और शस्त्र-शंसन = यथाभूत ऋग्मन्त्र का पाठ, ये दोनों [तु] तो [संस्कारः] संस्कार कर्म हैं, [याज्यावत्] याज्या के समान, जैसे याज्या संस्कार-कर्म है, ऐसे ही [देवताऽभिधानत्वात्] देवता का कथन करने से स्तोत्र और शस्त्र को संस्कार-कर्म मानना चाहिए।

सामगान द्वारा देवता की स्तुति के रूप में उसका वर्णन या कथन 'स्तोत्र' कहा जाता है। यथापठित ऋग्मन्त्र का उच्चारण करते हुए देवता के गुणकथन को 'शस्त्र' कहते हैं। सूत्र में उदाहरण 'याज्यावत्' दिया गया है। श्रौत यागों में हव्य-द्रव्य की आहुति देने के लिए विभिन्न दो मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। पहले मन्त्र का प्रयोजन है—अभिप्रेत देवता का मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्मरण करना; अन्य मन्त्र से उसी देवता को उद्देश्य कर हवि-द्रव्य की आहुति दी जाती है। इनमें पहला मन्त्र 'पुरोजुवाक्या' और दूसरा 'याज्या' कहा जाता है। जैसे याज्या में देवताकथन यागसाधन में उपकारक है, और वह संस्कारकर्म—गुणकर्म

१. प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्—गाये जाते ऋग्मन्त्रों से गुणी के गुण का कथन स्तोत्र, तथा अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। बिना गाए यथापठित ऋग्मन्त्रों से गुणी के गुण का कथन शस्त्र कहा जाता है।

माना जाता है, ऐसे ही स्तोत्र और शस्त्र हैं। स्तवन और शंसन में याज्या के समान देवता का कथन होने से इन्हें भी संस्कारकर्म—गुणकर्म माना जाना चाहिए। स्तवन और शंसनविषयक वाक्य वैदिक 'वाङ्मय में देखे जाते हैं—'आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते' आज्यसंज्ञक एवं पृष्ठसंज्ञक स्तोत्रों से देवता की स्तुति करता है; इसी प्रकार 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति'—प्रउगसंज्ञक शस्त्र को पढ़ता है, निष्केवल्य शस्त्र को पढ़ता है,—ये स्तवन और शस्त्र गुणवचन हैं। ये ऐसे ही वाक्य हैं, जैसे—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋ० १।३।२।१) 'इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करता हूँ', इत्यादि वाक्य हैं। ये स्तवन और शंसन-कर्म भी देवता के गुणों का वर्णन करते हैं, यही इनका प्रयोजन है। देवता-सम्बन्धी गुणों के प्रकाशनरूप संस्कार से इन्हें गुणकर्म मानना युक्त होगा ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥१४॥

[अर्थेन] अर्थ के अनुसार अर्थात् देवताप्रकाशनरूप प्रयोजन से [तु] तो (यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का चोतक है), [अपकृष्येत] अन्यत्र ले-जाया जायेगा [देवतानामचोदना] देवतावाचक नाम से युक्त मन्त्र द्वारा किया जाने वाला स्तवन और शंसन का यह विधान, [अर्थस्य] स्तवन और शंसनरूप कर्म के [गुणभूतत्वात्] देवता के प्रति गुणभूत होने से।

सोमयाग के अन्तर्गत माहेन्द्र (महेन्द्र देवता के उद्देश्य से किए जानेवाले) ग्रहयाग की सन्निधि में 'इन्द्रप्रगाथ' पठित है। 'इन्द्रप्रगाथ' पद का अर्थ है—इन्द्र का स्तवन व प्रशंसन करनेवाले मन्त्र। ये मन्त्र ऋ० ७।३।२।२, २३ हैं। जब इन मन्त्रों द्वारा सामगान के रूप में देवता की स्तुति की जाती है, तब इसका नाम 'स्तोत्र' तथा जब यथापठित मन्त्र द्वारा पाठ करके देवता की प्रशंसा की जाती है, तब 'शस्त्र' कहा जाता है। ये स्तोत्र व शस्त्र देवता के स्तवनरूप स्वतन्त्र कर्म हैं, एवं अपूर्व के उत्पादक हैं। परमात्मा की स्तुति करने से आत्मा में धर्म-विशेष का उद्रेक होता है; वही अदृष्ट व अपूर्व की उत्पत्ति है।

यदि स्तोत्र और शस्त्र को संस्कारकर्म माना जाता है, तो यह मन्त्रनिर्देश गौण होगा, तथा देवता प्रधान। संस्कारकर्म का तात्पर्य है—प्रकृत अनुष्ठान में मन्त्र द्वारा देवता को प्रस्तुत करना। देवता के वर्णन के लिए प्रयुक्त होने के कारण मन्त्र, देवता की प्रतियोगिता में गुणभूत तथा देवता प्रधान है। ऐसी स्थिति में इन्द्र देवताविषयक स्तोत्र-शस्त्र को माहेन्द्र ग्रहयाग के सामीप्य से हटाकर वहाँ स्थानान्तरित करना होगा, जहाँ इन्द्र देवता के उद्देश्य से अनुष्ठान का विधान हो; क्योंकि स्तोत्र आदि द्वारा देवता का प्रस्तुत करना वहीं अपेक्षित होगा। ऐसी दशा में 'इन्द्रप्रगाथ' (इन्द्रविषयक स्तोत्र-शस्त्र) जिस क्रम में पढ़ा है, उसकी

बाधा होगी; तथा स्थानान्तरित होने से माहेन्द्र ग्रहयाग के सामीप्य का भी अवरोध होगा, अर्थात् यह सामीप्य भी बाधित होगा। अतः प्रस्तुत स्तोत्र-शास्त्र को संस्कारकर्म माने जाने के पक्ष का—दोषपूर्ण होने से—परित्याग करना ही उचित है।

फलतः ये स्वतन्त्र कर्म हैं, जो इन्द्ररूप परमात्मा की स्तुति आदि द्वारा आध्यात्मिक भावनाओं के उद्भावनरूप अपूर्व के उत्पादक हैं ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऐन्द्र स्तोत्र-शास्त्र को संस्कारकर्म ही क्यों न माना जाय ? माहेन्द्र ग्रहयाग की सन्निधि में इन्द्रप्रगाथ (ऐन्द्र स्तोत्र-शास्त्र) के पठित होने मात्र से उक्त पक्ष का परित्याग करना आवश्यक न होगा; क्योंकि माहेन्द्र और इन्द्र एक ही देवता है। शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥१५॥

[वशावत्] वशा के समान [वा] निश्चित रूप से [गुणार्थम्] गुणनिर्देश के लिए [स्यात्] है, ऐन्द्रप्रगाथ।

माहेन्द्र ग्रहयाग प्रसंग में पठित ऐन्द्र स्तोत्र-शास्त्र को स्थानान्तर करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि माहेन्द्र और इन्द्र पदों से बोधित देवता एक ही है। यह स्पष्ट है, 'माहेन्द्र' पद महत्त्व-गुणसहित इन्द्र का कथन करता है, जबकि केवल 'इन्द्र' पद महत्त्व-गुणरहित इन्द्र का। परन्तु शास्त्र में अन्यत्र ऐसा देखा जाता है कि गुणनिर्देश से रहित पद भी गुणसहित अर्थ के निर्देश के लिए प्रयुक्त होता है। अतिदेश वाक्य है—'छागस्य' वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' छाग की वपा और मेद के लिए कथन करो। यहाँ 'छाग' पद जातिवाचक होने से पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग सबका बोधक है। अतः 'छाग' पद यहाँ 'छागी' का वाचक है, जिसके लिए कहा गया है—'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा' निश्चय ही वह सब देवताओंवाली है जो यह वशा (वन्ध्या) अजा है। मूल में 'छाग' पद उक्त प्रकार से छागी का वाचक गुणरहित प्रयुक्त भी वशा = (वन्ध्यात्वगुणयुक्त) अजा का निर्देश करता है। इसी प्रकार माहेन्द्र ग्रहयाग प्रसंग में पठित ऐन्द्रप्रगाथ का 'ऐन्द्र' पद गुणरहित भी, महत्त्व—गुणसहित इन्द्र (माहेन्द्र) का बोधक होगा। अतः ये एक देवता होने से ऐन्द्रप्रगाथ का इन्द्र देवतावाले कर्म में स्थानान्तरण अपेक्षित नहीं है। अतः पूर्वोक्त कोई दोष न होने से इन्द्र-सम्बन्धी इस स्तोत्र-शास्त्र को संस्कारकर्म मानना उपयुक्त होगा ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥१६॥

[न] संस्कार कर्म मानने पर ऐन्द्रप्रगाथ का स्थानान्तरण अपेक्षित न होगा, यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि [श्रुतिसमवायित्वात्] 'महेन्द्र' पद का श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के साथ स्पष्ट सम्बन्ध होने से ।

'अभि त्वा शूर नोनिम' [ऋ० ७।३२।२२, २३] इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ (स्तोत्र, शस्त्र) की ऋचाओं में 'इन्द्र' पद श्रूयमाण है, अर्थात् श्रुतिपठित है, 'महेन्द्र' पद नहीं। इसके अतिरिक्त 'ऐन्द्रः प्रगाथः' में 'इन्द्र' पद से तद्धित 'अण्' प्रत्यय 'साऽस्य देवता' [४।२।२४] इस पाणिनि-नियम के आधार पर होता है—'इन्द्रो देवता अस्य प्रगाथस्य, इति ऐन्द्रः प्रगाथः' इन्द्र देवता है इस प्रगाथ का, इसलिये यह प्रगाथ 'ऐन्द्र' है। यहाँ तद्धित प्रत्यय की प्रकृति 'इन्द्र' है; प्रत्यय जिस प्रकृति के आगे होता है, उससे मिलकर उसी का बोध कराता है, अन्य का नहीं—यह प्रत्यय का स्वभाव है। इस प्रकार 'महेन्द्र' पद के आगे तद्धित प्रत्यय महेन्द्र प्रकृति का बोध करायेगा; उसके एकदेश 'इन्द्र' का नहीं—'महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य', इति माहेन्द्रो ग्रहः'। ग्रह नामक यागविशेष ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। यहाँ 'महेन्द्र' समस्त (समासयुक्त महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः) प्रातिपदिक अर्थवान् है; उसका एकदेश 'इन्द्र' नहीं। यह केवल तद्धितार्थ को अभिव्यक्त करता है, अर्थात् इन्द्र को हवि का देवता होना। एक बार के उच्चारण में समासाथ—इन्द्र का महत्त्व, और तद्धितार्थ—हवि का देवता होना, ये दोनों अर्थ अभिव्यक्त नहीं हो सकते। फलतः महेन्द्र से इन्द्र भिन्न देवता है, यह स्पष्ट होता है। इस कारण ऐन्द्र प्रगाथ = स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर इसका स्थानान्तरण वहाँ प्राप्त होगा, जहाँ इन्द्र देवता के उद्देश्य से याग का विधान हो। ऐसा होने पर सन्निधि की बाधा और अपकर्ष (स्थानान्तरण) आदि दोष प्रस्तुत होंगे। अतः प्रक्रान्त स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माने जाने का पक्ष सर्वथा त्याज्य है ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने इन्द्र और महेन्द्र देवता के भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

[व्यपदेशभेदात्] व्यपदेश—निर्देश के भेद से [च] भी, यह जाना जाता है कि इन्द्र महेन्द्र से भिन्न देवता है ।

दर्श-पूर्णमास इष्टि के प्रसंग में गो-दोहन के अनन्तर इन्द्र और महेन्द्र भिन्न-

१. रामेश्वर मूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक वृत्ति में सूत्र का पाठ 'न श्रुतिसमवायित्वात्' है ।

पदघटित कथन से दोनों का भेद स्पष्ट होता है। वहाँ पर वाक्य हैं—'बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः' तथा 'बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः' गो-बोहन के अनन्तर उक्त प्रकार वाणी का उच्चारण किया जाता है। यदि इन्द्र और महेन्द्र देवता एक ही हो, तो दोनों पदों से पृथक् कथन करना व्यर्थ होगा। इसके अतिरिक्त मन्त्र में विकल्प-दोष भी प्राप्त होगा। इन्द्र और महेन्द्र दोनों को एक देवता मानने पर मन्त्रों पर विकल्प हो जायगा कि किसी भी एक मन्त्र से वाणी का विसर्जन करे। यह अशास्त्रीय होगा; क्योंकि ऐसे विकल्प का कोई संकेत यहाँ नहीं है ॥१७॥

आचार्य सूत्रकार ने इन्द्र-महेन्द्र देवताओं के भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

[च] और इन्द्र तथा महेन्द्र को एक देवता मानने पर [गुणः] महत् गुण [अनर्थकः] अनर्थक—व्यर्थ [स्यात्] हो जायगा।

विधि शब्द से यह जानने पर कि अमुक कर्म में इन्द्र देवता है, उसको हवि दी जानी है, तो इन्द्र-महेन्द्र के एक होने पर जहाँ महेन्द्र देवता है, वहाँ भी इन्द्र को हवि दी जायगी, तब इन्द्र के महत् गुण का कथन निष्प्रयोजन होगा। किसी विशेष्य पद का कोई विशेषण पद उस विशेष्य को अन्य विशेष्य से पृथक् रखता है। यदि 'इन्द्र' का महत् विशेषण उसको अन्य विशेष्य से पृथक् रखता, तो वह व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि ग्रह के ग्रहण प्रसंग में 'माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति' कहा है। उसका सम्बन्ध इन्द्र से नहीं है। यदि ऐसा होता, तो 'ऐन्द्रं ग्रहं गृह्णाति' कहा जाता। तब 'महत्' गुण का कथन व्यर्थ होता। इससे स्पष्ट है—इन्द्र और महेन्द्र पृथक् देवता हैं ॥१८॥

सूत्रकार ने इनके भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तथा याज्यापुरोश्चोः ॥१९॥

[तथा] उती प्रकार—जिस प्रकार 'व्यपदेशभेदाच्च' सूत्र में 'बहु दुग्धि' मन्त्रों में इन्द्र और महेन्द्र का पृथक् निर्देश होने से उनका भिन्न देवता होना सिद्ध है, तथा उन्हें अभिन्न मानने पर मन्त्र का विकल्प-दोष दिया गया है—[याज्या पुरोश्चोः] याज्या और पुरोजुवाक्या में इन्द्र और महेन्द्र का पृथक् निर्देश है।

१. द्रष्टव्य—तै०ब्रा० ३।२।३॥ तथा सन्तुलन करें—'तिसृणु दुग्धासुः बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविरिति त्रिरुक्त्वा वाचं विसृजते। माहेन्द्रायैति वा ॥ मानव श्रौ० सू० १।१।३।२६॥

इन्द्र देवता की याज्या और पुरोऽनुवाक्या, तथा महेन्द्र देवता की याज्या और पुरोऽनुवाक्या के भेद से भी इन देवताओं का परस्पर भिन्न होना प्रमाणित होता है। इन्द्र देवता की पुरोऽनुवाक्या 'एन्द्र सानसि रयिम्' [ऋ० १।८।१] ऋचा है तथा याज्या 'प्र ससाहिषे पुरुहूत षन्नून्' [ऋ० १०।१८०।१] ऋचा है। इसके विपरीत महेन्द्र की याज्या 'भुवस्त्वभिन्द्र ब्रह्मणा महान्' [ऋ० १०।१५०।४] ऋचा है, एवं पुरोऽनुवाक्या 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' [ऋ० ८।६।१] ऋचा है'। इससे इन्द्र और महेन्द्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि इन्द्र और महेन्द्र को एक देवता माना जाता है तो याज्या पुरोऽनुवाक्या में विकल्प प्राप्त होगा। ऐसी अवस्था में किसी एक याज्या पुरोऽनुवाक्या का बाध स्वीकार करना होगा, जो अशास्त्रीय है ॥१६॥

सूत्र १५ में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत 'वशावत्' दृष्टान्त के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥

[वशायाम्] मन्त्र में पठित 'छाग' पद का प्रयोग—'अजा वशा' के अर्थ में किया गया—युक्त है, [अर्थसमवायात्] अर्थ—प्रयोजन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण।

'अग्नये छागस्य वपाया भेदसोऽनुब्रूहि' मन्त्र में 'छाग' पद जातिवाचक होने से छागी के लिए प्रयुक्त है, यह प्रथम कहा गया। परन्तु छाग या छागी पद से किसी कर्म का विधान नहीं है, सोमयाग के अन्तर्गत अग्निषोमीय पशुयाग का विधान सर्वत्र बताया है। वहाँ लिखा है—सा वा एषा, सर्वदेवत्या यदत्रा वशा, वायव्यामालभेत—निश्चय ही वह सब देवोंवाली है, जो यह अजा वशा है, वायु देवतावाली अजा का आलभन करे। यहाँ कर्म का निर्देश अथवा विधान 'अजा वशा' पद से किया गया है। परन्तु यह है कि पशुयाग के विधिवाक्य 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' में सामान्यपशु पद का प्रयोग होने से किसी भी पशु का आलभन किया जाय ? अथवा केवल अज = बकरा पशु का ? इस विषय में आचार्यों ने सिद्धान्त किया है—'छागो वा मन्त्रवर्णात्। अग्नये छागस्य वपाया भेदसोऽनुब्रूहि' मन्त्र में छाग का निर्देश है। परन्तु 'छाग' पद के निर्देश द्वारा किसी कर्म का विधान न होने से यदि छाग पदबोध्य 'अज' का ग्रहण यहाँ न किया जाय, तो छाग के प्रयोग में 'समर्थ मन्त्र का पाठ व्यर्थ हो जायगा। इसलिए विधिवाक्य में पठित 'पशु' पद से

१. द्रष्टव्य—आश्वलायन श्रौतसूत्र, (१।६।१)।

२. इसका विस्तृत वर्णन आगे मीमांसा-दर्शन के अध्याय ६, पाद ८, अधिकरण १० तथा सूत्र ३० से ४२ तक में किया गया है।

छाग—अज पशु का ग्रहण ही अभीष्ट है।

पशुयाग प्रसंग में कर्म का विधान करते हुए 'अजा वशा' का निर्देश पूर्वोक्त वाक्य में उपलब्ध है। 'वशा' पद का अर्थ 'वन्ध्या' है। वन्ध्या होने की विशेषता 'अजा' में ही सम्भव है, 'अज' में नहीं। इसलिए निगमपठित 'छाग' पद सीधा अजा का बोध करायेगा, अज का नहीं। वन्ध्या होने रूप अर्थ का सम्बन्ध स्वभावतः अजा के साथ है। यहाँ गुणरहित या गुणसहित होने का प्रश्न नहीं उठता, अतः माहेन्द्रग्रह और ऐन्द्रप्रगाथ के प्रसंग में 'वशा' का दृष्टान्त प्रस्तुत करना असंगत है। इन्द्र अपने रूप में पूर्ण देवता है, उसे हवि के लिए अन्य किसी विशेषण की अपेक्षा नहीं है। इसलिए ऐसी दशा में यदि 'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कारकर्म माना जाता है, तो इन्द्र देवतावाले कर्म में उसका स्थानान्तरण आवश्यक होगा, जो दोषपूर्ण है। अतः इसे प्रधान कर्म मानना उपयुक्त होगा।

रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में उक्त अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए 'प्रत्यक्ष' पद का अध्याहार स्वीकार किया है। अभिप्राय है—मन्त्र में श्रूयमाण छाग-पदबोधित जो छागी है, उससे अभिन्न अर्थात् तद्रूप ही 'वशा' है, यह प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है, परन्तु इन्द्र पद से उपस्थाप्य देवता में महत्त्व-गुण केवल शास्त्र से जाना जाता है, यह दृष्टान्तगत वैधर्म्य है। फलतः उक्त प्रसंग में १५वें सूत्र से प्रस्तुत 'वशा'-दृष्टान्त असंगत है ॥२०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कारकर्म मानने पर यदि प्रयोजन की पूर्ति के लिए स्थानान्तरण होता है, तो हो जाय, इसमें क्या हानि है? वाचायं ने शिष्य-जिज्ञासा को सुत्रित किया—

यच्चेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

[वा] पद पूर्वप्रतिपादित सिद्धान्त-पक्ष की निवृत्ति का अथवा जिज्ञासा के प्रकारान्तर का द्योतक है। तात्पर्य है—ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र (प्रगाथ) प्रधानकर्म नहीं है। [यत्-च-इति] और यह जो कहा कि संस्कारकर्म मानने पर इन्द्रप्रगाथ का स्थानान्तरण हो जायगा, सो वह [अर्थवत्त्वात्] प्रयोजनवाला होने से [स्यात्] हो जाय।

ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर यदि इन्द्र देवता के उद्देश्य से किये जानेवाले कर्म के प्रसंग में उनका स्थानान्तरण होता है तो वह सप्रयोजन होने से दोषावह नहीं होगा। इन्द्र की स्तुति व प्रशंसा इसी प्रयोजन से है कि वह इन्द्र देवतावाले कर्म में सम्बद्ध हो, तब प्रगाथ के स्थानान्तरण में कोई दोष नहीं; क्योंकि इसी प्रयोजन के लिए वह है।

कुतुहलवृत्ति और सुबोधिनीवृत्ति में सूत्र के 'यच्चेति' पदों के स्थान पर 'यत्रेति' पाठ है। यह निर्देश उस स्थान का संकेत कर रहा है, जहाँ 'ऐन्द्र प्रगाथ'

के स्थानान्तरण होने का प्रथम उल्लेख किया। तात्पर्य है—जहाँ ऐन्द्र प्रगाथ का प्रयोजन पूरा होता है, वहाँ उसका उत्कर्ष या अपकर्ष हो जाय; इसमें कोई हानि नहीं। इन्द्र देवता के उद्देश्य से जहाँ कर्म का विधान है, उस लिङ्ग के आधार पर 'ऐन्द्र प्रगाथ' अपने क्रम व सान्निध्य को छोड़कर वहाँ उपस्थित किया जाता है, तो यह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार है^१। अतः ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को गुणकर्म मानने में कोई दोष नहीं ॥२१॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का आंशिक समाधान किया—

न त्वाग्नातेषु ॥ २२ ॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वोक्त ऐन्द्रप्रगाथ के स्थानान्तरण का बाधक है। [आग्नातेषु] प्रत्यक्ष पठित कर्मों में जहाँ अन्य प्रयोजन [न] नहीं है, वहाँ उत्कर्ष सम्भव नहीं।

उक्त प्रकार से यदि उत्कर्ष सर्वत्र माना जाता है, तो अनेकत्र ऐसे स्थलों में वह निरर्थक होगा; क्योंकि उसका प्रयोजन अथवा उपयोग वहाँ (स्थानान्तर में) नहीं है। इसलिए जहाँ वे मन्त्र पठित हैं, वही पर वे देवता (परमात्मदेव) की स्तुति (स्तोत्र) व प्रशंसा (शस्त्र) द्वारा अदृष्ट के जनक होने से प्रधान कर्म हैं, यही मानना उपयुक्त होगा।

कतिपय मन्त्र 'यम'^२ देवता विषयक हैं। वैदिक वाङ्मय में^३ इनके स्तोत्र-शस्त्र होने का कथन है। शाबरभाष्य में कतिपय निर्देश है—'याम्याः शंसति; क्षिपिविष्टिवतीः शंसति; पितृदेवत्याः शंसति; आग्निमास्तं शंसति'^४—'यम देवता-वाली ऋचाओं को पढ़ता है; क्षिपिविष्ट'^५ पद से युक्त ऋचाओं को पढ़ता है; पितृ देवतावाली^६ ऋचाओं को पढ़ता है; अग्नि और मरुत् देवतावाले^६ मन्त्र पढ़ता

१. द्रष्टव्य—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाल्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्, अर्धविप्रकर्षात्' [मीमांसा, ३।३।१४] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में से किन्हीं दो की जब किसी कार्य में एकसाथ प्राप्ति हो, तो उनमें पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है। लिङ्ग के मुकाबले स्थान (सान्निधि) के दुर्बल होने से स्थान-सान्निध्य को बाधकर लिङ्ग के बल पर ऐन्द्र प्रगाथ इन्द्र-देवताक कर्म में स्थानान्तरित हो जायगा।

२. द्रष्टव्य—ऋ० १०।१४।१३-१६॥ तथा ऋ० १०।१३५॥

३. द्रष्टव्य—ऐ०ब्रा०, ३।३५॥ आश्व०श्रौ० ६।१०॥ शांखा० श्रौ० ८।६।१३॥

४. द्रष्टव्य—ऋ० ७।६।१७ तथा ७।१००।६, ७॥

५. द्रष्टव्य—ऋ० १०।१५ सूक्त ॥

६. शाबर भाष्य में केवल 'आग्निमास्ते' पाठ है, इसका पूर्वापर से कोई स्पष्ट

है। यदि ये प्रसंग केवल देवता को प्रस्तुत करते हैं, तो इनका उत्कर्ष (स्थानांतरण) उन प्रसंगों में होना चाहिए, जहाँ उन देवताओं के उद्देश्य से कर्मों का विधान हो; परन्तु ऐसा सम्भव न होने के कारण इनका उत्कर्ष अभीष्ट नहीं है। क्योंकि इन ऋचाओं का कहीं अन्यत्र उपयोग नहीं, इसलिए ऐसे स्तोत्र-शास्त्र को यथास्थान ही देवता के रूप में परमात्मा के स्तवन-शंसनरूप प्रधान कर्म मानकर अदृष्टजनक स्वीकार करना उपयुक्त होगा। इन्हीं के समान 'ऐन्द्रप्रगाथ' का उत्कर्ष भी अभीष्ट नहीं माना जाना चाहिए। वह भी अपने रूप में प्रधान कर्म है।

शाबर भाष्य में कतिपय सूक्तों का उल्लेख किया है, जिनका कहीं अन्यत्र कर्म आदि में उपयोग नहीं है। ये हैं—कुषुम्भक सूक्त (ऋ० १।१६१), अक्ष सूक्त (ऋ० १०।३४), सूर्यिका सूक्त इत्यादि। इनका भी अन्यत्र कर्म में उपयोग न होने से इन्हें भी यथास्थान अध्ययन या पाठ आदि द्वारा अदृष्ट का जनक मानना चाहिए ॥२२॥

अन्यत्र उपयोग न होने के कथन पर जिज्ञासु ने तत्काल आपत्ति की, जिसको सूत्रकार ने सूत्रित किया—

दृश्यते ॥२३॥

[दृश्यते] देखा जाता है, उक्त प्रसंगों का उपयोग अन्यत्र।

उक्त प्रसंग वेद में जहाँ पढ़े गये हैं, वहाँ से अन्यत्र प्रसंगों में उनका उपयोग देखा जाता है। इसलिए उनके उत्कर्ष में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। इससे उनकी अर्थवत्ता (प्रयोजनवाला होना) सिद्ध है। ऐसे कतिपय स्थलों की अर्थवत्ता भाष्य में बताई है—अक्षसूक्त की राजसूय याग में। राजसूय प्रसंग में अक्षसूक्त का उत्कर्ष होने से उसकी वहाँ अर्थवत्ता है। कहा जाता है कि राजसूय में इसके अनुसार द्यूतक्रीड़ा का विधान है। परन्तु यह कथन नितान्त असंगत है; क्योंकि अक्षसूक्त में तो जुआ खेलने का स्पष्ट निषेध है—'अर्धर्मा दीव्यः' पासों से मत खेलो। अक्षसूक्त का राजसूय में यही उपयोग माना जाना चाहिए कि राजसूय—जैसा भी याग है उसे—जुए का खेल न बनाया जाय। यदि किन्हीं स्तोत्र-शास्त्र या ऋचाओं की अर्थवत्ता अन्यत्र कहीं कर्म में स्पष्ट प्रतीत नहीं होती, तो उनकी

सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। कुतूहलवृत्तिकार ने 'आग्निमास्ते शस्त्रे याम्याः शंसति पित्र्याः शंसति' ऐसा निर्देश कर पूर्व-पदों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। अग्नि और मरुत् देवता सम्बन्धी शास्त्र में यम देवतावाली और पितृ देवतावाली ऋचाओं को पढ़ता है। यहाँ पाठ ऐ० ब्रा० (३।३५) के अनुसार दिया है।

अर्थवत्ता 'वाचस्तोम' कर्म में बताई गई है। सभी ऋग्, यजुः, साम का 'वाचस्तोम' कर्म में पाठ का विधान है। इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में 'पारि-
प्लव' आख्यान का कथन है। इसका तात्पर्य है—याग के चालू प्रसंग में अवकाश
के अवसरों पर किसी भी वेद के मन्त्रों का पाठ होते रहना चाहिए। इसके लिए
शास्त्रीय विशेष निर्देश या व्यवस्था नहीं है, इसीलिए इसका नाम 'पारिप्लव' है,
जिसका भावार्थ होता है—अव्यवस्था।

इसी के अनुसार सोमयाग में प्रसंग है—अश्वि देवतावाली ऋचाओं से
सूर्योदय तक शंसन (शस्त्र = यथापाठ उच्चारण) करे। यदि इस शस्त्र के पढ़ते
हुए सूर्योदय न होवे, तो ऋग्वेद के किन्हीं भी सूक्तों या ऋचाओं का पाठ सूर्योदय
होने तक करते रहना चाहिए। इस सबका यही तात्पर्य है—अनुष्ठानों के चालू
प्रसंग में अवकाश के अवसरों पर मनुष्य-वाणी का प्रयोग नहीं होना चाहिए। ऐसे
अवसरों पर उन स्तोत्र-शस्त्र अथवा ऋचाओं का पाठ किये जाने से अर्थवत्ता—
उपयोगिता सिद्ध हो जाती है, जिनका अन्यत्र कर्मों में उपयोग होने का स्पष्ट
निर्देश शास्त्र में न हुआ हो। फलतः सभी स्तोत्र-शस्त्र की अर्थवत्ता अन्यत्र सम्भव
होने से उनका उत्कर्ष माने जाने में कोई बाधा न रहने के कारण यह कथन निरा-
धार हो जाता है कि अनेक आम्नात = पठित स्तोत्र-शस्त्र की अन्यत्र अर्थवत्ता—
उपयोगिता सम्भव न होने से उत्कर्ष माने जाने पर उनकी निरर्थकता हो जायगी।

रामेश्वरसूरिविरचित सुबोधिनी व्याख्या में उक्त दो (सं० २२, २३) सूत्रों
की गणना व व्याख्या नहीं है। २१वें सूत्र के बाद वहाँ २२वाँ सूत्र बह है, जो यहाँ
संख्या २४ पर निर्दिष्ट है। वस्तुतः ऐसा ज्ञात होता है कि ये सूत्र मूल रचना के
नहीं हैं। सम्भवतः मध्यकालिक व्याख्याकारों ने २१वें सूत्र में उठाई जिज्ञासा
का—अन्य बाधक आपत्ति उठाकर—समाधान करने का प्रयास किया, तथा उस
प्रयास को अगले (२३वें) सूत्र से निरस्त किया। इसके पीछे उनकी यह भावना
स्पष्ट ज्ञात होती है कि वे समस्त वेद की अर्थवत्ता या उपयोगिता को केवल
कर्मकाण्ड में प्रयोग होने की सीमा के अन्तर्गत मानते रहे हैं, जो मूल शास्त्रीय
मान्यता के अनुकूल नहीं है। क्योंकि वेद समस्त सत्य विद्याओं के ग्रन्थ हैं, इसी
कारण सम्भवतः अनेक व्याख्याकारों ने इनको मूल सूत्र होने की मान्यता नहीं
दी^२ ॥२३॥

सूत्र २१ में जो जिज्ञासा उभारी गई है, सूत्रकार उसका यथावत् समाधान

१. 'वाचस्तोम' कर्म क्या है? यह स्पष्ट नहीं हो सका। सम्भव है, अपेक्षित
अवसरों पर ऋचाओं का अनवरत पाठ करना उक्त नाम का कर्म हो। इसका
शब्दार्थ है, स्तुति एवं प्रशंसापूर्ण वाणियों का ढेर।

२. परन्तु हमने यहाँ शाबर भाष्य के अनुसार परम्परामूलक रहने दिया है।

प्रस्तुत करता है—

**अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्ति
विदध्याताम् ॥२४॥**

[अपि वा] ये पद, स्तोत्र-शस्त्र के पूर्वोक्त—संस्कारकर्म होने—का निरास कर उन्हें प्रधानकर्म बताने के द्योतक हैं। प्रधानकर्म होने में हेतु दिया—[श्रुति संयोगात्] श्रूयमाण सप्तमी विभक्ति के सम्बन्ध से। इसलिए [प्रकरणे] माहेन्द्र ग्रह प्रसंग में पठित [स्तौति शंसती] स्तौति और शंसति ये क्रियापद घात्वर्थ के आधार पर [क्रियोत्पत्तिम्] क्रिया—कार्य = अपूर्वं रूप की उत्पत्ति का [विदध्याताम्] विधान करते हैं।

स्तोत्र-शस्त्र के प्रसंग में 'कवतीषु स्तुवते, शिपिविष्टवतीषु स्तुवते' इत्यादि में सप्तमी विभक्ति का सम्बन्ध श्रूयमाण है। तात्पर्य है—'क' वाली ऋचाओं पर स्तवन करता है, अर्थात् 'क' वाली ऋचाओं का सामगान-रूप में उच्चारण करते हुए स्तुति करता है। इसी प्रकार 'शिपिविष्ट' पद^१वाली ऋचाओं का सामगान-रूप में उच्चारण करता हुआ देवता का स्तवन करता है। 'स्तौति-शंसति' धातुओं का मुख्य अर्थ स्तुति करना है। स्तुति क्या है? गुणी के विद्यमान और अविद्यमान गुणों का प्रकाश करना। यह स्तुति मुख्य कर्म है, और अपूर्वोत्पत्ति का विधायक है। यहाँ कर्मान्तर के लिए देवता को उपस्थित करना, इसका नितान्त भी तात्पर्य नहीं है। इसलिए जहाँ माहेन्द्र ग्रह प्रकरण में यह स्तोत्र-शस्त्र (ऐन्द्र प्रगाथ) पठित है, वहीं पर यह अदृष्ट (अपूर्वं) का जनक प्रधान कर्म है। इसलिए यह कहना निराधार है कि यदि ऐन्द्र प्रगाथ के उत्कर्ष का कोई प्रयोजन है, तो उत्कर्ष हो जाय। वस्तुतः अपने प्रकरण में ही अपूर्वं का जनक होने से प्रधान कर्म होने के कारण ऐन्द्र प्रगाथ के उत्कर्ष का अवकाश ही नहीं रहता।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि अपूर्वं का जनक (साधन = करण) होने से 'कवतीषु स्तुवते' में 'कवतीभिः स्तुवते' यह तृतीया विभक्ति का श्रवण हो। विभक्ति कोई भी हो 'स्तौति' घात्वर्थ के आधार पर स्तुति के लिए ही देवता का नाम लिया जाता है। घात्वर्थ के प्रधान होने से स्तवन-शंसन प्रधान कर्म है, देवता को प्रस्तुत करनेवाले संस्कारकर्म नहीं।

'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवीचम्' इत्यादि में, श्रूयमाण षष्ठी विभक्ति देवता

१. द्रष्टव्य—ऋ० ४।३।१-३॥ तथा साम०, ६८२, ६८३, ६८४, का त्रिक, (सातवलेकर संस्करण)।

२. द्रष्टव्य—ऋ० ७।६८।७, ७।१००।७॥ साम० १६२७। ऋ० ७।१००।६॥ साम० १६२५। (सातवलेकर संस्करण)

की स्तुति का ही प्राधान्य अभिव्यक्त करती है। यदि देवता (इन्द्र आदि) पद के प्रथमान्त होने पर भी स्तुति का ही प्राधान्य रहता है, जैसे—'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इन्द्र जंगम और स्थावर का राजा है—यहाँ स्तुति ही प्रधान है, देवता का कथन वाक्य-सम्बन्ध से स्तुति के लिए ही है। अतः ये स्तोत्र-शस्त्र अपूर्वोत्पत्ति का विधान करने के कारण प्रधान कर्म हैं, यही मान्य सिद्धान्त है ॥२४॥

स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥

[शब्दपृथक्त्वात्] शब्द से पृथक्त्व = नियत नानात्व का बोध होने के कारण [च] भी, स्तोत्र-शस्त्र प्रधान कर्म हैं।

अग्निष्टोम नामक याग में बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र होते हैं, यह शब्द-प्रमाण से जाना जाता है। यदि इन्हें प्रधान कर्म नहीं माना जाता, तो नियत बारह संख्या का होना सम्भव न होगा; क्योंकि स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माने जाने पर इनका प्रयोजन देवता का प्रकाशन करना ही होगा। उस दशा में देवता का स्तवन व शंसन एक ही गिना जायगा। तीन ऋचाओं का साम एक 'स्तोत्र' होता है, इसी प्रकार यथापठित तीन ऋचाओं का एक 'शस्त्र'। प्रधान कर्म मानने पर स्तोत्र-शस्त्र की संख्या नियत रहती है। यदि ऐसा न माना जाय, और भेद का आश्रय लिया जाय तो प्रत्येक ऋचा एक स्तोत्र-शस्त्र के रूप में गिनी जाने से इनकी नियत बारह संख्या का होना सम्भव न होगा। स्तोत्र-शस्त्र की बारह संख्या होने का शास्त्रीय^१ निर्देश [तै० ब्रा० १।२।२] इनके प्रधान कर्म होने को सिद्ध करता है ॥२५॥

१. तै० ब्रा० १।२।२ में कहा है 'द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि' इसके भाष्य में सायणाचार्य ने द्वादश स्तोत्रों का परिगणन इस प्रकार किया है—प्रातः सवन में—'ब्रह्मिष्यवमान' नाम का एक स्तोत्र, और चार 'आज्य'-संज्ञक स्तोत्र (१+४=५)। माध्यन्दिन सवन में—'माध्यन्दिन पवमान' नाम का एक स्तोत्र, और 'पृष्ठ'-संज्ञक चार स्तोत्र (१+४=५)। तृतीय सवन में—'आर्मकपवमान'-संज्ञक एक स्तोत्र, और 'यज्ञायज्ञीय' नाम का दूसरा। इस प्रकार तीनों सवनों में ५+५+२=१२ स्तोत्र होते हैं।

स्तोत्रों के समान ही शस्त्रों की भी संख्या जाननी चाहिए। द्वादश शस्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—प्रातः सवन में—(१) आज्य, (२) प्रउग, (३) मैत्रावरुण, (४) ब्राह्मणाच्छंसी, (५) अच्छावाक। माध्यन्दिन सवन में—(१) मरुत्वतीय, (२) निष्केवल्य, (३) मैत्रावरुण, (४) ब्राह्मणाच्छंसी, (५) अच्छावाक। तृतीय सवन में—(१) वैश्वदेव,

स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अनर्थकञ्च तद्वचनम् ॥२६॥

[अनर्थकम्] अनर्थक हो जाता है [च] तथा [तद्वचनम्] स्तोत्र-शस्त्र का कथन, अग्निष्टोम में।

यदि स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माना जाता है, तो अग्निष्टोम याग में आग्नेय ग्रह का कथन करने पर बताया, अग्नि देवतावाली ऋचाओं के आधार पर—अर्थात् उनका उच्चारण करते हुए स्तवन करते हैं; अग्नि देवतावाली ऋचाओं में शंसन करते हैं—स्तोत्र-शस्त्र का यह विधान अनर्थक हो जाता है।

'अग्निष्टोम' पद का अर्थ है—वह कर्म, जिसमें अग्नि का स्तवन किया जाय। अग्निस्तुति से कर्म की समाप्ति होने के कारण इसका नाम 'अग्निष्टोम' है। सोमयाग की समाप्ति सात प्रकार से होती है, उनके नाम हैं—अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्यामि। समाप्ति के कारण होने से—सन्तिष्ठतेऽग्न्या—इनको 'संस्था' कहा जाता है। सोमयाग कर्म की जिस नाम से समाप्ति होती है, उसी के आधार पर यह नामकरण है। यदि स्तोत्र-शस्त्र संस्कारकर्म है, अर्थात् देवता का प्रकाशनमात्र करते हैं, तो आग्नेय ग्रहकर्म में ग्रहों के आग्नेय (अग्नि देवतावाले) होने से उसी अग्नि देवता के प्रकाशनरूप स्तोत्र-शस्त्र स्वभावतः आग्नेयी (अग्नि देवतावाली) ऋचाओं से ही सम्बद्ध होंगे, फिर वहाँ 'आग्नेयीषु स्तुवन्ति, आग्नेयीषु शंसन्ति' यह स्तोत्र-शस्त्र का विशेष विधान करना निष्प्रयोजन हो जाता है। अतः यह विधान स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने को सिद्ध करता है। इन्हें प्रधान कर्म मानने पर ही उक्त विधि की सफलता है; क्योंकि अदृष्टोत्पत्ति की साधनता आग्नेयी ऋचाओं में सम्भव

(२) आग्निमासतः। तीनों सबनों में $५ + ५ = २ = १२$ शस्त्र।

स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म न मानने की दशा में उनका प्रयोजन देवता का प्रकाशन या प्रस्तावन ही रह जाता है; तब स्तोत्र-शस्त्र की संख्या बारह न रहकर प्रकाशनरूप एकमात्र रहेगी। यदि फिर भी भेद स्वीकार किया जाता है, तो प्रति ऋचा स्तवन और शंसन होने से स्तोत्र-शस्त्रों की संख्या १२ तक ही सीमित नहीं रहेगी। प्रत्येक स्तोत्र का गान 'तृचे साम गीयते' नियम से तीन-तीन ऋचाओं पर गाया जाता है। स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानने पर जितनी ऋचाओं में स्तोत्र या शस्त्र पूर्ण हो जाता है, उसे एक स्तोत्र व शस्त्र माना जाता है। इस प्रकार द्वादश संख्या उपपन्न हो जाती है।

(यु०मी०, इसी सूत्र की व्याख्या पर)।

है, यह केवल शास्त्रैकगम्य है, इसी कारण 'आग्नेयीषु स्तुवन्ति' इत्यादि विधान किया ॥२६॥

इसीकी पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्यश्चार्यः प्रतीयते ॥२७॥

[अन्यः] अन्य—भिन्न [च] तथा [अर्थः] अर्थ—प्रयोजन अर्थात् फल [प्रतीयते] जाना जाता है।

शास्त्र से यह जाना जाता है कि स्तोत्र का फल भिन्न है और शस्त्र का भिन्न। मैत्रायणी संहिता [४।८।७] में बताया है—'सम्बद्धे वै स्तोत्रं च शस्त्रं च' इसके अनुसार स्तोत्र और शस्त्र परस्पर भिन्न हैं, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि सम्बद्ध बताये जाने की भावना का मूल, इनका परस्पर भिन्न होना है। सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव है। इसी आधार पर स्तोत्र और शस्त्र भिन्न-भिन्न अपूर्व (अदृष्ट-फल) के उत्पादक हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाता है, तो स्तोत्र-शस्त्र दोनों का एक ही देवता—स्मरण प्रयोजन होने से, जो स्तोत्र है वही शस्त्र है, ऐसा माना जायगा। इस दशा में शास्त्र का सम्बन्धविधायक कथन अनुपपन्न होगा।

कुतूहल-वृत्तिकार ने दोनों के भेद का उपपादक एक अन्य वाक्य उदाहृत किया है—'स्तुतमनुशंसति'। स्तोत्र के अनु—पश्चात् शसन (शस्त्र) का यह निर्देश दोनों के भेद को स्पष्ट करता है। इससे स्तोत्र-शस्त्र के स्वतन्त्र कर्म होने पर प्रधान कर्म होना सिद्ध होता है ॥२७॥

इसी प्रसंग में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥

[अभिधानम्] अभिधान—कथन—निर्देश [च] भी [कर्मवत्] कर्म के समान देखा जाता है।

प्रधान कर्म के समान ही स्तोत्र-शस्त्र का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है। प्रधान कर्म का निर्देश कर्म, कारक विभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति के साथ देखा जाता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति, सन्ध्याम् उपासीत, समिधो यजति' अग्निहोत्र आदि प्रधान कर्मों का जैसे द्वितीया विभक्ति के साथ निर्देश है, ऐसे ही स्तोत्र-शस्त्र का निर्देश शास्त्र में उपलब्ध होता है, जैसे स्तोत्र का—'पृष्ठानि उपयन्ति'। यहाँ 'पृष्ठ'-संज्ञक स्तोत्र का द्वितीयान्त निर्देश है। इसी प्रकार 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति' में 'प्रउग'-संज्ञक तथा 'निष्केवल्य'-संज्ञक शस्त्र का द्वितीया विभक्त्यन्त निर्देश है। इस आधार पर भी स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानना युक्त है ॥२८॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२६॥

[फलनिर्वृत्तिः] फल की सिद्धि [च] भी, स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने को स्पष्ट करती है।

स्तोत्र और शस्त्र के नाम से अपूर्वोत्पत्तिरूप फल की सिद्धि का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है। 'एष वै स्तुतशस्त्रयोर्दोहः'—यह निश्चित ही स्तोत्र और शस्त्र का दोह = फल है। स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि होने का निर्देश, इनकी प्रधान कर्म माने जाने की पुष्टि करता है। यहाँ देवता के नाम से फल का निर्देश नहीं है। यह तभी सम्भव होता, जब स्तोत्र-शस्त्र को केवल देवता के गुण-कथन द्वारा उन्हें देवता का स्मारकमात्र माना जाता।

तैत्तिरीय संहिता (३।२।७) में स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। वह यजमान-सम्बन्धी वचन है। उसका भावार्थ है—उद्गाताओं से भीयमान हे स्तोत्र ! तू स्तोत्रों में उत्तम है, तू मेरे लिए श्रेष्ठ फल का दोहन कर, अर्थात् मुझे फल प्राप्त करा। इसी प्रकार शस्त्र के विषय में कहा—होताओं से उच्चरित हे शस्त्र ! तू शस्त्रों में उत्तम है, तू मेरे लिए मुफल का दोहन कर; अर्थात् मुझे प्राप्त करा। यहाँ स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि का निर्देश है, देवता के नाम से नहीं। अतः स्तोत्र-शस्त्र के अदृष्टफलोत्पादक स्वतन्त्र कर्म होने से उन्हें प्रधान कर्म मानना सर्वथा न्याय्य है।

यहाँ इस उपपादन का केवल इतना प्रयोजन है कि स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने से इनका उत्कर्ष (स्थानान्तरण) देवता के अनुसार नहीं होगा। प्रधान कर्म होने का अन्य प्रयोजन एतद्विषयक सन्देह-स्थल में देखा जाता है। जहाँ ग्रहयाग का देवता भिन्न हो, और स्तोत्र-शस्त्र का भिन्न, वहाँ सन्देह होता है—क्या ग्रहयाग के देवता के अनुसार स्तोत्र-शस्त्र में देवता का ऊह (= परिवर्तन) किया जाय, अथवा नहीं? जैसे अग्निष्टुत् नामक एकाह याग में आग्नेय ग्रह कहे गये हैं। उससे सम्बद्ध स्तोत्र-शस्त्र के देवता, ग्रह के देवता अग्नि से भिन्न हैं। क्या यहाँ स्तोत्र-शस्त्र के देवता के स्थान पर ग्रह देवता का परिवर्तन कर लिया जाय? इस सन्देह का समाधान यही किया गया है कि स्तोत्र-शस्त्र के प्रधानकर्म होने से उनमें किसी प्रकार का ऊह = परिवर्तन या विकार नहीं किया जा सकता। इनके प्रधान कर्म माने जाने का यह भी प्रयोजन है ॥२६॥ (इति स्तोत्र-शस्त्र-प्राधान्याधिकरम्—५)।

(मन्त्राऽविधायकत्वाधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—जो क्रियापद (आख्यात) मन्त्र में प्रयुक्त है, वे

ही वैदिक वाङ्मय के ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में देखे जाते हैं। मन्त्रभाग में क्रियापद केवल घात्वर्थ का अभिधायक माना जाता है, जबकि वही क्रियापद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विधायक=विधि के अनुष्ठान में प्रेरित करनेवाला कहा जाता है। ऐसा क्यों ?

गुरु—इस विषय में तुम्हारा क्या विचार है ?

शिष्य—जब दोनों स्थानों में क्रियापद समान हैं, तो अर्थाभिव्यक्ति—अर्थ के प्रकाशित करने में भी समानता होनी चाहिए। मन्त्रभाग में प्रयुक्त क्रियापद को भी विधायक माना जाना चाहिए। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दात् ॥३०॥

[विधिमन्त्रयोः] विधि-विधायक ब्राह्मणग्रन्थ और मन्त्र में पठित क्रियापदों का [ऐकार्थ्यम्] समान अर्थ होता है, [एकशब्दात्] उभयत्र समान शब्द होने से।

ऋग्वेद [६।२८।३] में मन्त्र है—

न ता नशन्ति वभाति तस्करो नसामागिन्नो व्यधिरा वधर्षति ।

देवाँश्च धामिर्यजति ववाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

यह सूक्त गायों के विषय का है; सूक्त का देवता गाय हैं। वे गाय नष्ट नहीं होती, चोर उन्हें दुःखी नहीं करता, शत्रु द्वारा प्रेरित प्रतिकूलता भी उनपर आक्रमण नहीं करती। देवों को लक्ष्य कर जिन गायों (गोधूत-दुग्ध आदि) से यजन करता व दान करता है, गोपति चिरकाल तक उन गायों के साथ संगत रहे। गायों का विछोह गोपति को कभी अनुभव न करना पड़े।

इस मन्त्र में 'यजति, ददाति' आख्यात-पद उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं। मन्त्र में इनका केवल इतना अर्थ है कि यजन एवं दान करना चाहिए, यह अभीष्ट कर्म है। परन्तु ब्राह्मण में इसका अर्थ—ब्रह्म, देवता, क्रिया अर्थात् अनुष्ठान आदि समस्त विधि-विधान अभिहित होता है। ऐसा न होकर सर्वत्र समान अर्थ होना चाहिए, क्योंकि 'यजति' आदि आख्यात-पद उभयत्र समान रूप से प्रयुक्त हैं। तात्पर्य है, मन्त्र में भी आख्यात-पदों को विधायक (विधि का बोधक) माना जाना चाहिए ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

[अपि वा] ये पद पूर्वोक्त कथन की आंशिक निवृत्ति के द्योतक हैं—अथवा ऐसे भी मान लेना चाहिए [प्रयोगसामर्थ्यात्] प्रयोग के सामर्थ्य—साफल्य से [मन्त्रः] मन्त्रगत आख्यात-पद [अभिधानवाची] धात्वर्थमात्र का बोधक अर्थात् क्रियमाण कर्म (याग, दान आदि) का केवल बोध करानेवाला [स्यात्] होता है। इसी में उसकी सफलता है।

उदाहृत प्रसंग में मन्त्रगत 'यजति, ददाति' आदि आख्यात-पदों का—गाय के घृत-द्रुग्ध आदि से याग का अनुष्ठान करना चाहिए, एवं गोदान करना चाहिए, यह बोध कराना ही—फल है, अर्थात् इन पदों का इतना ही प्रयोजन है। ब्राह्मण-भाग में प्रयुक्त आख्यात-पदों का यदि इतना ही अर्थ हो, तो वह निष्फल है; वह तो मन्त्रगत पदों से अभिव्यक्त हो चुका है, इसलिए वहाँ आख्यात-पद याग एवं दान आदि का विधायक माना जाता है। तात्पर्य है—वह आख्यात-पद धात्वर्थ-मात्र को न कहकर यागसम्बन्धी 'द्रव्य, देवता, क्रिया' आदि सबके विधान को अभिव्यक्त करता है। मन्त्र कर्म की केवल उपादेयता को बताता है, ब्राह्मण उसके विधि-विधान को। अतः मन्त्र को अविधायक माना गया है।

मध्यकालिक मीमांसकों की परम्परा में उक्त मान्यता रही है; वस्तुतः यह सिद्धान्त प्रायिक है। मन्त्रगत आख्यात-पद भी विधायक देखे जाते हैं। इस विषय में यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय द्रष्टव्य है, विशेषकर संख्या बीस से लेकर आगे के कतिपय मन्त्र। इनमें 'आलभते' आख्यात-पद को विधायक माना जाता है। मीमांसा में धर्म का लक्षण 'चोदना' कहा है, इसका अर्थ है—प्रेरक वाक्यबोधित कर्तव्य। प्रेरणा निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के लिए होती है, 'सुरां न पिबेत्' सुरा न पिबे, यह निवृत्ति के लिए प्रेरणा है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' अग्निहोत्र होम करे, यह प्रवृत्ति के लिए प्रेरणा है। इनको विधायक वाक्य माना जाता है। इसी प्रकार 'अक्षरं दोष्यः कृषिमित् कृषस्व' [ऋ० १०।३।४।१३] ये मन्त्रगत वाक्य भी पूर्वोक्त वाक्यों के समान ही निवर्तक और प्रवर्तक हैं। अतः इन्हें भी विधायक माने जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी कारण सूत्रकार ने गत सूत्र में मन्त्र का जो लक्षण किया कि—मन्त्र अविधायक होता है, वस्तुतः यह लक्षण प्रायिक है। अगले सूत्र [३२] में शबर स्वामी भाष्यकार ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है ॥३१॥ (इति मन्त्राऽविधायकत्वाधिकरणम्—६)।

(मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सूत्र में 'मन्त्र' को अभिधानवाची अर्थात् धात्वर्थमात्र का बोधक कहा गया, पर यह नहीं बताया कि मन्त्र है क्या? सूत्र-

कार ने मन्त्र का लक्षण बताया—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥

[तत्—चोदकेषु] कर्म की उपादेयता के प्रेरक वाक्यों में [मन्त्राख्या] 'मन्त्र' संज्ञा का व्यवहार होता है।

गत सूत्र में मन्त्र का जो स्वरूप बताया गया—मन्त्र अभिधानवाची है, इसका यही तात्पर्य है कि—कर्म की उपयोगिता का कथन करनेवाला मन्त्र है। हमारे विचार से मन्त्र का यह लक्षण यथार्थ है, निर्दोष है। उसी भाव को—सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र द्वारा पदान्तरों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र के 'तत्' सर्वनाम पद का अर्थ है—कर्म की उपादेयता-अनुपादेयता। कौन कर्म उपादेय है, कौन अनुपादेय, इतने मात्र अर्थ का बोध करानेवाले वाक्यों में 'मन्त्र' संज्ञा का व्यवहार किया जाता है। वेद अर्थात् मूल संहिताभाग में प्रयुक्त आख्यात-पद कर्म की केवल उपादेयता-अनुपादेयता का बोध कराते हैं। ऐसे आख्यात-पदों से युक्त वाक्यसमूह 'मन्त्र' कहा जाता है।

अनेक बार ऐसे वाक्यों में भी 'मन्त्र' पद का व्यवहार होता देखा जाता है, जहाँ आख्यात-पद केवल धात्वर्थ का निर्देश न कर, याग-होम-दान आदि के विधि-विधान का बोधक होता है। ऐसे वाक्यसमूह में मन्त्र पद का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए, 'सिंहो माणवकः' के समान। समस्त मन्त्रभाग में प्रयुक्त आख्यात-पद—चाहे वह सिद्ध अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयुक्त है, अथवा क्रियमाण कर्म की उपादेयता या अनुपादेयता का बोध कराने के लिए, इतने मात्र से अतिरिक्त उसका अन्य कोई बोध्य अर्थ नहीं होता। मन्त्र का यह लक्षण केवल मूल वेदसंहिता में घटित होता है।

फलतः मन्त्रगत आख्यात-पद—याग, दान, होम, उपासना, कृषि प्रभृति क्रियमाण कर्मों की उपादेयता—एवं अनेक निषेधयुक्त आख्यात-पद कर्म की अनुपादेयता—मात्र का बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक आख्यात-पद सिद्ध वस्तुओं के अस्तित्व का—उनकी विशेषताओं के साथ—बोध कराते हैं। इसमें उनके शुद्ध धात्वर्थ का ही अभिव्यञ्जन होता है। इस प्रकार मन्त्र अर्थात् मूल वेद-संहिता का यह लक्षण अपने रूप में पर्याप्त व निर्दोष है।

अनेक विस्तृत वस्तु (= आख्यात) समुदाय के स्वरूप का लक्षण द्वारा निरूपण करने पर उसके समझने में बड़ी सुविधा होती है। सर्वत्र बिखरे आख्यात-पदों का—एक-एक का नाम लेकर यह बताना—कि, यह विधायक है और यह अविधायक—सम्भव नहीं। इसके आधार पर मन्त्र-ब्राह्मण का विभाजन भी असम्भव होगा। अतएव आचार्यों ने लक्षण के महत्त्व को समझते हुए बताया है—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

ऋषिजन भी पृथक्-पृथक् रूप से पदार्थों का अन्त नहीं पाते, परन्तु लक्षण से सिद्ध = निदिष्ट—निरूपित वस्तुओं का बुद्धिजीवी जन भी अन्त पा जाते हैं। इस प्रकार लक्षण द्वारा 'मन्त्र' पद से चार संहिताओं—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व का बोध होता है; क्योंकि इन संहिताओं में किसी कर्म के विधि-विधान प्रकार का निरूपण नहीं है। यहाँ आख्यात-पद केवल कर्म की उपादेयता आदि को बताता है। विधि-विधान का प्रकार बताना ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का विषय है ॥ ३२ ॥ (इति मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम्—७) ।

(ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम्—८)

गत सूत्र से मन्त्र का लक्षण कर आचार्य ने ब्राह्मण का लक्षण बताया—

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥

[शेषे] मन्त्र से अतिरिक्त जो भाग आम्नाय का बच जाता है, उसमें [ब्राह्मण-शब्दः] ब्राह्मण पद का व्यवहार समझना चाहिए।

यज्ञादि कर्मों की निष्पत्ति में जिन ग्रन्थों का प्रयोग किया जाता है, उनको सूत्रकार ने [१।२।१ सूत्र में] 'आम्नाय' पद से कहा है। 'श्रुतिस्तु वेद आम्नाय' कोश' के अनुसार श्रुति, वेद, आम्नाय पद समान अर्थ को कहते हैं। कौशिक सूत्र (१।३) में कहा है—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' इसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को आम्नाय अथवा वेद पद से कहा जाना चाहिए। वस्तुतः इन पदों का प्रयोग मुख्य रूप से चार मूल संहिताओं—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के लिए होता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मणभाग के लिए 'वेद' पद का प्रयोग नितान्त पारिभाषिक है; जैसे पाणिनीय व्याकरण अष्टाध्यायी में वृद्धि और गुण-पदों का प्रयोग है। इसलिए 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि वाक्यों का क्षेत्र केवल यज्ञसम्बन्धी ग्रन्थों के व्यवहार तक सीमित है। अन्यत्र व्यवहार में यदि ऐसा प्रयोग किया जाता है, तो उसे नितान्त औपचारिक ही समझना चाहिए।

अब प्रश्न होता है, यदि सूत्रकार को मुख्य रूप में मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिए वेद पद का प्रयोग अभिप्रेत होता, तो गत सूत्र से मन्त्र का लक्षण कर देने पर 'ब्राह्मण' का लक्षण करना अनावश्यक था, क्योंकि वह परिशेष से स्वतः सिद्ध हो जाता। जो मन्त्र-लक्षण के अन्तर्गत नहीं आता, वह शेष अर्थात् बचा हुआ ब्राह्मण है। फिर भी सूत्रकार ने पृथक् सूत्र लिखकर लक्षण किया, इसमें 'शेष' पद का क्या

अभिप्राय है ? यह विवेच्य है ।

चालू प्रसंग में मन्त्र-ब्राह्मण-स्वरूप को समझने के लिए मुख्य आधार आख्यात-पदप्रयोग को माना है । जहाँ आख्यात केवल अभिधेयवाची अर्थात् धात्वर्थमात्र का बोधक है, केवल कर्म की उपादेयता-अनुपादेयता का बोध कराता है, वह मन्त्र है । तथा वैदिक वाङ्मय के जिन ग्रन्थों में बाहुल्य से आख्यातपद केवल धात्वर्थ को न कहकर योगसम्बन्धी द्रव्य, देवता, क्रिया आदि सबके विधान को अभिहित करता है, वह ब्राह्मण है । सूत्र में 'शेष' पद का यही अर्थ है; आख्यात-पद के धात्वर्थमात्र से अतिरिक्त बचा हुआ अर्थ । यह द्रव्य, देवता, क्रिया आदि आख्यात का अर्थ अधिकता से जिन ग्रन्थों में अभिहित हुआ है, उन्हें ब्राह्मण जानना चाहिए ।

ऐसे प्रयोग के आधार को संकेत मानकर वृत्तिकार उपवर्ष ने जिज्ञासुओं की सुविधा के लिए अन्य अनेक प्रकार के साधन बताये हैं, जिनसे ब्राह्मण-ग्रन्थों की पहचान होती है । उनको सम्भवतः उपवर्ष ने स्वयं, अथवा किसी अन्य आचार्य ने निम्न प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमा च दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य हि ।
एतद्द्वे सर्वेष्वेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥'

हेतु—जहाँ हेतु, साधन का निर्देश क्रिया गया हो वह ब्राह्मण जानना चाहिए, जैसे—'शूर्पेण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते' सूत्र से होम करता है, क्योंकि उससे अन्न साफ किया जाता है । यहाँ होम का साधन—हेतु सूत्र कहा है, यह ब्राह्मणग्रन्थ की पहचान है; अथवा ऐसा कथन जहाँ हो, वह ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है ।

निर्वचन—किसी पद का अर्थ बताना, जैसे—'तद् दध्नी दधित्वम्' वह दही का दहीपन है । यहाँ दही अर्थ को स्पष्ट किया गया है ।

निन्दा—बुराई या दुर्बलता का कथन होना जैसे—'उपवीता वा एतस्यान्नयः इसकी अग्नियाँ निश्चित निर्वीर्य—अशक्त हो गई हैं, बुझ गई हैं । होम—अग्नि-कार्य का न होना निन्दा है ।

प्रशंसा—स्तुति करना, जैसे—'वायुर्व क्षेपिष्ठा देवता' केवल वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है । यह वायु देवता की स्तुति है ।

संशय—किसी विषय में सन्देह प्रकट करना, जैसे—'होतव्यं गार्हपत्ये न

१. इन श्लोकों के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण [१।३३।४७-४८] ; तथा वायुपुराण [५९।१३३-१३६] द्रष्टव्य हैं ।

होतव्यम्' गार्हपत्य अग्नि में होम करना चाहिए अथवा नहीं? ऐसा कथन ब्राह्मण-ग्रन्थ का चिह्न माना जाता है।

विधि—विधान करना, किसी कार्य का निर्देश करना, जैसे—'यजमान-सम्मिता औदुम्बरी भवति' औदुम्बरी = उदुम्बर—गूलर वृक्ष की शाखा यजमान के बराबर ऊँची होती है। यह शाखा के परिमाण का विधान है।

सोमयाग के सदोमण्डप में गूलर वृक्ष का बना एक स्तम्भ बीच में गाड़ा जाता है, जिसे छूकर उद्गाता सामगान करता है। यजमान के बराबर ऊँचाई भूतल से ऊपर नापी जाती है; जो भाग स्तम्भ का भूमि के अन्दर गड़ा रहता है, वह अतिरिक्त है। अनेक यजमान होने पर, किसी एक यजमान के साथ स्तम्भ की समता अन्यो के लिए भी वही उपयुक्त मानी जाती है।

परक्रिया—अथवा परकृति, अन्य के किए कार्य का निर्देश करना, जैसे—'माषानेव मह्यं पचत' मेरे लिए माष = उड़द ही पकाओ। यह अन्य के कार्य का कथन है।

पुराकल्प—पहले की किसी घटना का उल्लेख करना, जैसे—'उल्मुकैर्हं स्म पूर्वं समाजग्मुः' उल्मुकों—अंगारों के साथ ही पूर्वजन्म आए थे।

स्तुति, निन्दा, परकृति, पुराकल्प का अर्थवाद के रूप में निर्देश गौतमीय न्यायसूत्र [२।१।६४] में भी किया गया है। परकृति की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन में लिखा है—अन्य कर्त्ताओं द्वारा अनुष्ठित परस्पर-विषद्द विधि का कथन करना 'परकृति' है। उदाहरण दिया है—'हृत्वा वषामेवाग्नेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्; तबुह चरकाध्वयवः पृषदाज्यमेवाग्नेऽभिघारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति।' तात्पर्य है—कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वषा का ही प्रथम अग्नि में सेचन करते हैं। परन्तु चरक शाखा के अध्वर्युं जन दधिभिश्चित घृत (=पृषदाज्यम्) की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं; स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्त्तृक परस्पर-विरोधी दो विधियों का उल्लेख किया गया है।

पुराकल्प-अर्थवाद की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन-भाष्य में लिखा है—

पुराकल्प वह है—जिसमें बीते हुए अर्थों का इतिहास के समान विवरण प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण दिया है—'तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोमस्तौषन्—योने यज्ञं प्रतनवामहे' इत्यादि। तात्पर्य है—इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान नामक साम स्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला—बीते हुए अर्थ का—विवरण है।

कुमारिल भट्ट ने एकपुरुषकर्त्तृक उपाख्यान को 'परकृति' तथा बहुपुरुष-कर्त्तृक उपाख्यान को 'पुराकल्प' कहा है। यथाक्रम उदाहरण है—'तद्ब्रह्म स्मार्हापि

वर्कृवाष्णो माषान् भे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति' [अत० १।१।१।१०] । वर्कृ वाष्णं ने कहा—मेरे लिए उड़द पकाओ, क्योंकि इनकी हवि देवता ग्रहण नहीं करते। यह वर्कृ वाष्णं नामक एकपुरुषकर्तृक उपाख्यान 'परकृति' है। दूसरे पुराकल्प का उदाहरण दिया है—'उल्मुकंहं स्म पूर्वं समाजम्मुः' अंगारों (उल्मुक) के साथ पूर्वकालिक जन आए थे। यह बहुपुरुषकर्तृक उपाख्यान 'पुराकल्प' है। फिर भी इन आचार्यों के विभिन्न विवरणों में कोई विशेष तात्त्विक भेद नहीं है। वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट परकृति के उदाहरण में बहुवचन का प्रयोग वैशम्पायन (चरकाध्वर्यु) के लिए आदरार्थ समझना चाहिए। तब मट्ट के अनुसार भी वह उदाहरण समञ्जस है।

वृत्तिकार आचार्य उपवर्ष ने ब्राह्मणग्रन्थ की पहचान के लिए यह अतिरिक्त बताया है कि जहाँ 'इत्याह' का बहुतायत से प्रयोग हुआ है, वह ब्राह्मण है, तथा जो आख्यायिका-स्वरूप है, वह भी ब्राह्मण है। परन्तु यह सब प्रायिक है। अनेक पदों का प्रयोग न्यूनधिक रूप में सर्वत्र (मन्त्र, ब्राह्मण, उभयत्र) पाया जाता है; उपाख्यान का रूप अनेकत्र मन्त्रभाग में भी उपलब्ध है, भले ही वह कल्पनामूलक अथवा प्रतीकमात्र हो ॥३३॥ (इति ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम्—८) ।

(ऊहाद्यमन्त्रताधिकरणम्—९)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऊह, प्रवर और नामधेय में पद आदि के परिवर्तन को मन्त्र या ब्राह्मण माना जाय या नहीं? अथवा इनमें से ऊह आदि को क्या माना जाय? आचार्य ने समाधान किया—

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्, आम्नातेषु हि विभागः ॥३४॥

[अनाम्नातेषु] जो पूर्वपठित नहीं हैं उनमें [अमन्त्रत्वम्] मन्त्र नाम होने का अवकाश नहीं। [आम्नातेषु] पूर्वपठितों में [हि] क्योंकि [विभागः] मन्त्र है या ब्राह्मण? यह विभाग स्वीकार किया गया है।

ऊह और प्रवर के विषय में सूत्र [१।२।१२ तथा १।२।१३] की व्याख्या देख लेनी चाहिए। जब यजमान यज्ञानुष्ठान के लिए संकल्प लेता है, तब संकल्प-मन्त्र—'अग्निर्देवो देव्यो होता देवान् यक्षद् विद्वाँश्चिकित्वान्' के आगे अपने गोत्र-ऋषि पूर्वज का नाम जोड़कर पढ़ता है, यह प्रवर का उच्चारण है। जब यजमान होता का वरण करता है, तब प्रवरोच्चारण के अनन्तर यजमान अपना नाम जोड़कर उच्चारण करता है; इसको नामधेय कहा जाता है। जिज्ञासा है, इन ऊह, प्रवर और नामधेय को मन्त्र या ब्राह्मण क्या माना जाय? क्योंकि जैसे मन्त्र या ब्राह्मण विशेष अर्थ का अभिधायक है, इसी प्रकार ऊह आदि भी विशेष अर्थ का अभिधान

करते हैं।

सूत्रकार ने समाधान किया—यह ठीक है कि ऊह आदि अर्थ के अभिधायक हैं, परन्तु इन्हें न मन्त्र कहा जाता है, न ब्राह्मण। क्योंकि आचार्यों ने जिनके विषय में यह निर्देश कर दिया है कि ये मन्त्र हैं और ये ब्राह्मण, उन्हीं के लिए इन पदों का प्रयोग किया जाता है। ऊह आदि के विषय में आचार्यों ने उन्हें मन्त्र या ब्राह्मण माने जाने का कोई निर्देश नहीं किया; इसलिए इन्हें मन्त्र या ब्राह्मण कोई नाम नहीं दिया जाता।

तात्पर्य है—ऊह, प्रवर या नामधेय से युक्त मन्त्र वेद-संहिताओं में कहीं पठित नहीं हैं; इसलिए इन्हें मन्त्र नहीं कहा जाता। इसका प्रयोजन है। वेदमन्त्र के वर्ण, पद या स्वर आदि का भ्रष्ट उच्चारण हो जाय, तो उसके लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान है। वह ऊह आदि के ऐसे प्रसंग में नहीं किया जाता। इस कारण इनका मन्त्र न होना स्पष्ट होता है ॥३४॥ (इति ऊहाद्यमन्त्रताग्रिकरणम्—६)।

(ऋग्लक्षणाधिकरणम्—१०)

सूत्र के अन्तिम पदों—‘आम्नातेषु हि विभागः’ का सम्बन्ध अर्थान्तर के साथ अगले सूत्रों से समझना चाहिए। अर्थान्तर है—[आम्नातेषु] मन्त्र नाम से आम्नात=पठित वाङ्मय में [विभागः] वक्ष्यमाण रीति से विभाग समझना चाहिए। उसी को सूत्रकार ने बताया—

तेषाम् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥

[तेषाम्] उन आम्नात मन्त्रों के मध्य [ऋक्] वे ऋक्=ऋचा हैं [यत्र] जहाँ [अर्थवशेन] अर्थ के अनुरोध से [पादव्यवस्था] पादों-चरणों की व्यवस्था देखी जाती है।

वैदिक वाङ्मय तथा अन्यत्र भी—ऋक्, यजुः, साम—नामों से वेदसंहिताओं का उल्लेख हुआ है। उनका विचार करते हुए सूत्रकार ने ऋक् आदि के लक्षणों का निर्देश किया। पादव्यवस्था का तात्पर्य छन्दोबद्ध रचना से है। किसी छन्द में तीन पाद, जैसे गायत्री में, किसी में चार, जैसे अनुष्टुप् में, किसी में पांच, जैसे पंक्ति में होते हैं। इस प्रकार जिन मन्त्रों में पादव्यवस्था है, उनका नाम ऋक् है। यह ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

सूत्रकार ने यह पादव्यवस्था अर्थानुरोध के अनुसार बताई है। तात्पर्य है—प्रत्येक पाद में क्रियापद के प्रयोगपूर्वक अर्थ पूरा हो जाना चाहिए, जैसे—‘अग्नि-मीडे पुरोहितम्’ पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूँ। इसमें अर्थ पूरा हो जाता है, अर्थानुरोध के अनुसार एक पाद है; एक पाद में अक्षरों की संख्या आठ रहती है।

क्रियापद का अगले पादों में सम्बन्ध हो जाने से उन पादों में क्रियापद का प्रयोग न होने पर भी अर्थ पूरा हो जाता है, जैसे—‘यज्ञस्य देवमृत्विजम्’ यज्ञ के देव ऋत्विज् अग्नि की स्तुति करता हूँ, ‘होतारं रत्नघातमम्’ रत्नों का धारण करने वाले होता अग्नि की स्तुति करता हूँ। यह अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था है। छन्दःशास्त्र के अनुसार यह त्रिपदा गायत्री है।

कहीं ऐसा देखा जाता है, जहाँ आठ अक्षर पूरे हो जाने पर एक पाद माना जाना चाहिए, पर वहाँ क्रियापद न होने से अर्थ पूरा नहीं हो पाता, जैसे ‘अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिः’ यहाँ आठ अक्षर पूरे हो गए, पर क्रियापद नहीं है; तब अर्थ की अभिव्यक्ति पूर्ण न होने से यहाँ पाद की व्यवस्था कैसे होगी? छन्दःशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यों ने इसका उपाय बताया है—गायत्री छन्द के एक पाद के आठ अक्षरों की जगह बढ़कर दश अक्षर तक हो सकते हैं, और आवश्यकतानुसार घटकर पाँच या चार अक्षर तक रह सकते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार ‘अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यः’ इतना दश अक्षरवाला एक पाद होगा, इसमें ‘ईड्यः’ क्रियापद आ जाने से अर्थ पूर्ण हो जायगा। अगला पद—‘नूतनैवत’ पाँच अक्षर होगा, इसमें ‘ईड्यः’ का सम्बन्ध अर्थानुरोध से पूर्ववत् रहेगा। इसका तीसरा पाद है—‘स देवानेह वक्षति’ यह आठ अक्षर का यथार्थ एक पाद है। इस प्रकार पादों की अक्षर-व्यवस्था से तीन पादों का अस्तित्व अर्थ के अनुसार बना रहता है, और त्रिपदा गायत्री छन्द में कोई विसंगति नहीं आती ॥३५॥ (इति ऋग्लक्षणाधिकरणम्—१०)।

(सामलक्षणाधिकरणम्—११)

शिष्य-जिज्ञासानुसार सूत्रकार आचार्यों ने साम का लक्षण बताया—

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥

[गीतिषु] गान के साथ उच्चरित किए जानेवाले मन्त्रों में [सामाख्या] साम यह नाम होता है।

गीतिशास्त्र के अनुसार गाए जाते हुए मन्त्र वाक्यों में प्रामाणिक जन ‘साम’ नाम का प्रयोग करते हैं। ऐसे मन्त्रों को गाए जाने पर वे कहते हैं—यह हम सामों को पढ़ते-पढ़ाते हैं। जब तक किसी ने दही या गुड़ नहीं खाया, तब तक वह अनुभवी प्रामाणिक व्यक्ति के कथनानुसार ही इसे जानता है। खा लेने पर वह स्वयं दही की खटास व गुड़ की मिठास का अनुभव कर लेता है। इसी प्रकार संगीत का विशेषज्ञ होकर जब कोई व्यक्ति मन्त्रों के गान की पद्धति को सीख लेता है, तब वह स्वयं साम को जान जाता है। ‘गीति’ पद का अर्थ केवल ‘गान’ है, परन्तु सूत्र में गीति पद का प्रयोग गीतियुक्त मन्त्र के लिए हुआ है। गान साम नहीं है; जो मन्त्र

माया जाता है, उस मन्त्र का नाम साम है। ऐसे गाए जानेवाले मन्त्रों की संहिता 'सामवेद' के नाम से प्रसिद्ध है ॥३६॥ (इति सामलक्षणाधिकरणम्—११)।

(यजुर्लक्षणाधिकरणम्—१२)

शिष्य-जिज्ञासानुसार आचार्य सूत्रकार ने यजुष् का लक्षण बताया—

शेषे यजुःशब्दः ॥३७॥

[शेषे] ऋक् और साम-संज्ञक मन्त्रों से जो शेष = बचे रह जाते हैं, उनमें [यजुःशब्दः] यजुः शब्द का व्यवहार होता है।

सूत्रकार ने यजुष् के पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता नहीं समझी; क्योंकि ऋक् और साम का पृथक् लक्षण कर देने से—जो उन दोनों के विपरीत संहिता-भाग है, अर्थात् जो न ऋक् है न सामवत् यजुष् है; यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मन्त्रभाग न भीतिरूप है न पादबद्ध, वह यजुर्वेद नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इसमें कतिपय मन्त्र पादबद्ध पठित हैं, फिर भी दोनों के विपरीत प्राचुर्य से इसका यजु-वेद नाम उपयुक्त है ॥३७॥ (इति यजुर्लक्षणाधिकरणम्—१२)।

(निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—निगद नामवाले मन्त्रों को क्या यजुः के अन्तर्गत मानना चाहिए? या यजुः आदि से भिन्न इनका चौथा प्रकार माना जाय? सिद्धांत-पक्ष को अधिक पुष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

निगदो वा चतुर्थः स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥

[निगदः] निगद-संज्ञक मन्त्र—[वा] 'वा' पद विकल्पार्थ न होकर यहाँ निगदों की यजुः संज्ञा की निवृत्ति का द्योतक है;—[चतुर्थः स्यात्] पूर्वोक्ति तीनों से भिन्न चौथा प्रकार होना चाहिए [धर्मविशेषात्] धर्मविशेष के कारण।

शास्त्र में बताया है—'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन' ऋक् से प्रयोग ऊँचे उच्चारण के साथ किया जाता है, साम से ऊँचे उच्चारण के साथ, यजुः से उपांशु, निगद से ऊँचे स्वर के साथ। यजुः के साम्मुख्य में निगद का यही धर्मविशेष है, जो यजुः से उपांशु और निगद से ऊँचे स्वर में प्रयोग किया जाता है। उपांशु का अर्थ है—जिसमें तालु-जिह्वा-ओष्ठ आदि का प्रयोग अथवा कम्पन तो प्रतीत हो, पर शब्द का उच्चारण समीप बैठे व्यक्ति को भी सुनाई न पड़े। तालु आदि के प्रयोग का तात्पर्य है कि वह केवल मानसिक उच्चारण न होना चाहिए।

यजुः से निगद की यह विशेषता ठीक है कि यजुः का उपांशु और निगद का ऊँचा उच्चारण होता है, परन्तु ऋक् और साम के साथ निगद की उच्चैः प्रयोग की समानता निगद को ऋक् अथवा साम में अन्तर्भूत नहीं कर सकती, क्योंकि निगद न पादबद्ध होता है, न गीतिरूप; इसलिए यह मन्त्र का चतुर्थ प्रकार माना जाना चाहिए ॥३८॥

सूत्रकार ने इसी की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशाच्च ॥३९॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश से [च] भी, निगद-मन्त्र चौथे प्रकार के हैं, ऐसा जाना जाता है ।

कथनमात्र से लोक में व्यवहार किया जाना 'व्यपदेश' है । यजुः पढ़े जा रहे हैं निगद नहीं, निगद पढ़े जा रहे हैं यजुः नहीं,—यह लोकव्यवहार निगदों को यजुओं से भिन्न सिद्ध करता है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥

[यजूंषि] यजुः [वा] ही हैं वे निगद [तद्रूपत्वात्] यजुओं के समान रूप होने से ।

सूत्र में 'वा' पद विकल्पार्थक न होकर पूर्वपक्ष के निवारण का द्योतक होकर सिद्धान्तरूप निश्चय अर्थ को अभिव्यक्त करता है । यजुओं का स्वरूप ऋक् और साम से भिन्न है; न इनमें पादव्यवस्था है, न ये गाए जाते हैं । पादव्यवस्था के कारण ऋक् छन्दोबद्ध रचना है । जो ऋग्मन्त्र यज्ञादि के अवसर पर गीतिरूप में प्रयोग किए जाते हैं, वे साम हैं । उनसे भिन्न यजुओं के स्वरूप का तात्पर्य हुआ जो मन्त्र छन्दोबद्ध न होकर गद्यरूप हैं, वे यजुः हैं; निगद-संज्ञक मन्त्र भी ऐसे ही हैं, अर्थात् गद्यरूप हैं । इसलिए इनकी गणना यजुओं में ही होती है । इनका उच्चारण उपांशु न होने से इनकी विशेष संज्ञा निगद है । इसके निम्नलिखित पाँच विशिष्ट निमित्त हैं—

१. आश्वावण—यज्ञसम्बन्धी कोई कार्य आवश्यकतानुसार अन्य साथी को सुनाना ।

२. प्रत्याश्वावण—पूर्व-सुने का प्रत्युत्तर सुनाना ।

३. प्रवरनिर्देश—गोत्र-वंश आदि कथन के अवसर पर आवश्यक मन्त्रपाठ ।

४. सम्वाद—मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञसम्बन्धी वार्त्तालाप ।

५. सम्प्रेष—अध्वर्यु द्वारा उद्गाता को मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञसम्बन्धी निर्देश ।

इन प्रसंगों में कथन को दूसरे तक पहुँचाना आवश्यक होता है, जो उपांशु उच्चारण में सम्भव नहीं है। ऐसे अवसरों पर आवश्यक रूप से गद्य-मन्त्रों का उच्चारण ऊँचे स्वर से करना होता है, अतः इन मन्त्रों की विशेष संज्ञा 'निगद' रख दी गई है। स्वरूप में ये यजुओं से भिन्न नहीं हैं ॥४०॥

निगद मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष क्यों है ? सूत्रकार ने बताया—

वचनाद् धर्मविशेषः ॥४१॥

[वचनात्] वचन से—'उच्चैर्निगदेन' इस शास्त्रीय कथन से, निगद-मन्त्रों का [धर्मविशेषः] उच्चैस्त्व धर्मविशेष स्वीकार किया जाता है।

यजुओं में कतिपय मन्त्रों का उपांशु उच्चारण न होकर उच्चैः उच्चारण करना किसी का मनघड्कत नहीं है; शास्त्र इसका प्रतिपादन करता है। इतने मात्र से निगद-संज्ञक मन्त्रों का यजुष्ट्व भ्रष्ट नहीं हो जाता। यह शास्त्रीय प्रतिपादन निरर्थक नहीं, इसका प्रयोजन है ॥४१॥

आचार्य सूत्रकार ने वह प्रयोजन बताया—

अर्थाच्च ॥४२॥

[अर्थात्] अर्थ—प्रयोजन होने से [च] भी निगद-मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्म-विशेष मान्य है।

वह प्रयोजन है—अन्य पुरुषों को निगद-मन्त्रों का बोध कराना, जो उपांशु उच्चारण में सम्भव नहीं। वे मन्त्र ऊँचा उच्चारण किये बिना अन्य पुरुष को यज्ञसम्बन्धी कार्य का बोध नहीं करा सकते, इसी प्रयोजन से निगद मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष अनिवार्य रूप से स्वीकार्य माना गया है। स्वयं 'निगद' पद इसका बोधक है। 'नि' उपसर्ग प्रकर्ष-आधिक्य का वाचक है। 'गद' घातु का अर्थ है—व्यक्त वाणी द्वारा उच्चारण करना। तात्पर्य हुआ—पाठ अथवा उच्चारण का प्रकर्ष। ऐसे उच्चारण के अवसरों का निर्देश गत सूत्र के भाष्य में कर दिया है।

यदि कहा जाय—उपांशुत्व यजुओं का शास्त्रबोधित (=उपांशु यजुषा) गुण है, उसे हटाया नहीं जा सकता, तब यजुओं का ही उच्चैस्त्व कैसे? इस विषय में समझना चाहिए—गुण क्या है? गुण वह है, जो अपना कार्य करते हुए का उपकारक हो। निगद-मन्त्र परबोधनरूप अपना कार्य कर रहे हैं; उपांशुत्व उनका उपकारक होने के विपरीत विघातक है, क्योंकि उपांशु उच्चारण होने पर परबोधन असम्भव है। उपांशुत्व की चरितार्थता उन यजुओं में स्पष्ट है, जो परबोधन में प्रयुक्त नहीं हैं। शास्त्र-प्रतिपादित उपांशुत्व अथवा उच्चैस्त्व अपनी सीमा में गुण है, उसका हास कहीं नहीं होता ॥४२॥

इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

गुणार्थो व्यपदेशः ॥४३॥

[गुणार्थः] गुणबोधन के लिए होता है [व्यपदेशः] शास्त्रीय कथन ।

निगद-मन्त्रों का यजुष्ट्व सामान्य गुण (= धर्म) होने पर भी उच्चैस्त्व एक विशेष गुण है । एक ही स्थान में भिन्न कार्यों का होना कोई असमञ्जस नहीं है, विसंगति का द्योतक नहीं है । जैसे एक ही स्थानविशेष में—इधर ब्राह्मणों को भोजन कराओ, इधर संन्यासियों को—यह व्यवहार होता है । इसी प्रकार यजुः मन्त्र ही उच्चैस्त्व गुण से निगद कहे जाते हैं ॥४३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि उच्चैस्त्व गुण निगद संज्ञा का प्रयोजक है, तो सभी—उच्चैःस्वर से बोले जानेवाले—मन्त्रों का निगद नाम होना चाहिए । शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥

[सर्वेषाम्] ऊँचे स्वर से बोले जानेवाले सभी मन्त्रों का [इति चेत्] ऐसा निगद नाम यदि कहा जाय, तो (यह युक्त नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है) ।

ऐसी मान्यता में ऋक् और साम—सभी मन्त्र—जो ऊँचे स्वर से बोले जाते हैं—निगद-संज्ञक माने जाने चाहिए ॥४४॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥

[न] नहीं, ऋक् निगद नहीं [ऋग्व्यपदेशात्] 'ऋक्' ऐसा पृथक् कथन होने से ।

याज्ञिक परम्परा में 'अथाज्वा वै निगदाः' ऐसा सिद्धान्त माना जाता है । निगद-मन्त्रों से यज्ञ नहीं होता । दूसरा कथन है—'ऋचैव यजन्ति' ऋचा से ही यजन करते हैं । इस प्रकार विशिष्ट निमित्त के साथ ऋक् का निगद से स्पष्ट ही पृथक् कथन है ; निगद सदा अपादबद्ध होते हैं, ऋक् पादबद्ध ; इसलिए ऋक् का निगद नाम निराधार है । जो पद जिस अर्थ के बोधन के लिए निर्धारित है, वहीं उसका प्रयोग अभीष्ट है ॥४५॥ (इति निगदानां यजुष्ट्वाधि-करणम्—१३) ।

(एकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम्, अर्थकत्वाधिकरणं वा—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऋचाओं में अर्थ के अधीन पादव्यवस्था होने से

अर्थानुसार वाक्य का प्रयोग निर्धारित रहता है, परन्तु यजुओं के पादबद्ध न होने से प्रक्षिप्त पाठ में, अर्थात् परस्पर मिलित संहितापाठ में कितना अंश एक वाक्य है, जिसके आधार पर अर्थबोधपूर्वक कोई कर्म किया जा सके, यह पहचानना— निर्णय करना कठिन होता है। वहाँ प्रक्षिप्त पाद का कितना अंश एक यजुः है, अर्थात् एक वाक्य है, जिसके अनुसार विशिष्ट कर्म के लिए उसका प्रयोग किया जाय ? सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

अर्थकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात् ॥४६॥

[अर्थकत्वात्] अर्थ—प्रयोजन के एक होने से [एकम्] एक माना जाता है [वाक्यम्] वाक्य। [साकांक्षम्] आकांक्षा-सहित [चेत्] यदि [विभागे] विभाग—पृथक् हो जाने पर [स्यात्] होवे, या रहे।

पदों का कोई ऐसा समुदाय, जो अर्थानुसार एक प्रयोजन को पूरा करता है, वह एक वाक्य अर्थात् एक यजुः माना जाता है; पर शर्त यह है कि उस पद-समुदाय से कोई अंश पृथक् कर दिया जाय, तो शेष पदसमुदाय को पूर्ण अर्था-भिव्यक्ति के लिए आकांक्षा बनी रहे; अर्थात् पृथक् किए गए अंश के बिना वह भाग अपने अर्थानुकूल प्रयोजन को पूरा करने में असमर्थ रहे। तात्पर्य है—जितना पदसमुदाय अर्थाभिव्यक्तिपूर्वक एक प्रयोजन को सिद्ध करता है, प्रक्षिप्त पाठ में उतना पदसमुदाय-अंश एक वाक्य अथवा एक यजुः समझना चाहिए।

लौकिक उदाहरण के अनुसार छोटे से छोटा वाक्य है—‘देवदत्तः गच्छति’ देवदत्त जा रहा है। यदि इसमें अन्य कुछ भी जानने की आकांक्षा = इच्छा नहीं है, तो यह निराकांक्ष एक वाक्य है। ये दो पद ‘देवदत्तः’ और ‘गच्छति’ स्वतन्त्ररूप से पृथक् होने पर वाक्य सम्भव नहीं, क्योंकि देवदत्त कर्ता को किसी क्रिया की तथा ‘गच्छति’ क्रिया को किसी कर्ता की आकांक्षा अर्थपूर्ति के लिए बनी रहती है। परन्तु इस वाक्य में जब गमन-क्रिया के लक्ष्यस्थान की आकांक्षा होगी, तब यह निराकांक्ष न रहने से वाक्य नहीं माना जायगा; उस आकांक्षा को पूरा करने के लिए ‘ग्रामं’ इत्यादि पद इसमें जोड़ना होगा—‘देवदत्तः ग्रामं गच्छति’ देवदत्त गाँव को जा रहा है। इसमें भी यदि जाने के साधन की आकांक्षा होगी, तो इतना पदसमुदाय भी अधूरा वाक्य होगा। तब देवदत्त पैदल गाँव जा रहा है ? या किसी सवारी से ? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वाक्य में स्थिति के अनुसार ‘पद्भ्याम्, अश्वेन, रथेन’ इत्यादि कोई पद रखने पर वाक्य निराकांक्ष होगा—‘देवदत्तः पद्भ्यां (अश्वेन, रथेन) ग्रामं गच्छति’। तात्पर्य है—जितने पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करना अभीष्ट है, उतने के लिए जितना पदसमुदाय समर्थ है, वह एक वाक्य माना जाता है।

अब इसके लिए शास्त्रीय उदाहरण लीजिए—तैत्तिरीय संहिता [१।१।४] में मन्त्र है—‘देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि।’ इस मन्त्र का एकमात्र प्रयोजन है—हवि के निर्वपण का प्रकाशन करना। उसी विशिष्ट अर्थ का वाचक जो इतना पदसमुदाय है, वह एक वाक्य अथवा एक यजुः है। तात्पर्य है—जितना पद-समुदाय क्रियमाण कर्म का कथन करता अथवा स्मरण कराता है, उतना पदसमुदाय उस अर्थ को अनिव्यक्त करने में सक्षम होने के कारण वाक्य कहा जाता है।

हविनिर्वपण क्या है? सूत्रग्रन्थों^१ में बताया गया है—पुरोडाश, चरु आदि—प्रत्येक याग की—हवियों को सिद्ध करने के लिए उनका मूल अन्नद्रव्य, धान या जो आदि हविर्धान शकट में भरा रहता है, उसे उपयोगी मात्रा में वहाँ से लेना है। उसका प्रकार है—शकट के दाएँ पहिए पर अपना दायाँ पैर रखकर प्रत्येक आहुति के लिए चार-चार मुट्टी अपेक्षित अन्न अग्निहोत्र-हवणी (यज्ञिय पात्र-विशेष, जो इसी कार्य के लिए होता है) अथवा दूर्प (सूप, छाज) में रखकर नीचे उतारा जाता है; इस क्रिया का नाम ‘हविनिर्वपण’ है। इस क्रिया में पहली तीन मुट्टी अन्न ग्रहण करते हुए ‘देवस्य त्वा’ मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। तात्पर्य है—प्रत्येक मुट्टी अन्न ग्रहण करते समय ‘देवस्य त्वा’ पूरा मन्त्र बोला जाता है। चौथी मुट्टी अन्न बिना मन्त्रपाठ के ग्रहण किया जाता है।

मन्त्र के अन्त में ‘निर्वपामि’^२ क्रियापद है—मैं हवि का निर्वपण करता हूँ—प्रकाशन अथवा कथन करता हूँ। पूरे मन्त्र का अर्थ है—‘सविता देव की अनुज्ञा में अश्वियों के बाहुओं से और पूषा के हाथों से तुझ प्रिय हवि का निर्वपण करता हूँ।’ यह क्रियानुष्ठान इतने पदसमुदाय से बोधित, कथित या प्रकाशित होता है, इसका यही एक प्रयोजन है। अतः इतना पदसमुदाय एक यजुः अथवा एक वाक्य है। इसी प्रकार क्रियासम्बन्धी एक प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला कोई पदसमुदाय एक वाक्य अथवा एक यजुः माना जायगा।

ऋक् के लक्षण में अर्थ के अधीन (अर्थवदोन) पाद (एक चरण) व्यवस्था कही है। यहाँ भी यजुः की एकता का निर्धारण अर्थ के अधीन बताया। इसमें इतना अन्तर है—पहले स्थल में ‘अर्थ’ पद प्रत्येक पद के व पदसमुदाय के वस्तुगत अर्थ को प्रकट करता है, दूसरे स्थल में पदसमुदाय के प्रयोजन की। इसलिए कोई विसंगति इसमें नहीं है।

१. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १।१०।४-११।

२. वाजसनेयि संहिता [६।९] में इस मन्त्र के अन्तर्गत ‘निर्वपामि’ क्रियापद के स्थान पर ‘नियुनज्मि’ क्रियापद है। अर्थ है—हवि का नियोजन करता हूँ। दोनों में अर्थ का कोई विशेष अन्तर नहीं है।

उक्त मन्त्र में 'निर्वंपामि' क्रिया का मन्त्र के प्रत्येक भाग के साथ अनुषङ्ग^१ कर 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वंपामि', 'अश्विनोर्बाहुभ्यां निर्वंपामि', 'पूष्णी हस्ताभ्यां निर्वंपामि' इस प्रकार अनेक वाक्यों की कल्पना करना संगत न होगा, क्योंकि यहाँ निर्वंपा प्रधान कर्म है, शेष समस्त मन्त्रभाग उसके साधनरूप में है। निर्वंपा को गुणभूत मानने पर ही मन्त्र के विभिन्न भागों के साथ क्रियापद का अनुषङ्ग सम्भव है; क्योंकि गौण का अस्तित्व प्रधान के लिए होता है। उस दशा में मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन हविर्निर्वंपा न रहने से क्रियानुष्ठान के अवसर पर मन्त्रपाठ का अदृष्ट प्रयोजन अथवा फल मानना पड़ेगा, जो शास्त्रीय दृष्टि से व्याप्य नहीं है; क्योंकि दृष्ट प्रयोजन के रहते अदृष्ट की कल्पना को अन्याय्य माना गया है। अतः समस्त मन्त्र प्रधान कर्म हविर्निर्वंपा में समन्वित होने से इतना पदसमुदाय एक वाक्य अथवा एक यजुः है। इसमें अनेक वाक्य की कल्पना निराधार है। यह सर्वत्र के लिए वाक्य का साधारण लक्षण नहीं है। इसे केवल प्रासंगिक कथन समझना चाहिए ॥४६॥ (इति एकवाक्यत्वलक्षणाऽधिकरणम्, अर्थकत्वाऽधिकरणं वा—१४)।

(वाक्यभेदाऽधिकरणम्—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' इत्यादि पदसमुदाय को एक वाक्य माना जाय, अथवा भिन्न वाक्य? 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' इत्यादि का कोई दृष्ट प्रयोजन न होने के कारण समस्त पदसमुदाय का एक अदृष्ट प्रयोजन मानने पर क्या इन्हें एक वाक्य मान लिया जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥

[समेषु] समान वचनों में [वाक्यभेदः] वाक्य का भेद [स्यात्] होता है। जिन वाक्यों में परस्पर आकांक्षा नहीं है, वहाँ गुण-प्रधान भाव न होने से वे समान हैं। ऐसे वाक्य भिन्न माने जाने चाहिए। उक्त वाक्यों में 'इषे त्वा' से एक प्रयोजन सिद्ध होता है, 'ऊर्जे त्वा' से दूसरा; इसलिए ये सब पदसमुदाय एक वाक्य नहीं; अर्थ-(प्रयोजन)-भेद से भिन्न वाक्य हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष-अनुमान से से दृष्ट प्रयोजन उपलब्ध न होने पर भी वह श्रुतिबोधित है। 'इषे त्वा, इति छिनत्ति'—'इषे त्वा' यह उच्चारण करता हुआ पलाश (ढाक वृक्ष) की शाखा को काटता है; तथा 'ऊर्जे त्वा, इति अवमाष्टि'—'ऊर्जे त्वा' उच्चारण करता हुआ

१. वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए जहाँ प्रकरण-पठित पद अन्त में जोड़ा जाता है, उसे 'अनुषङ्ग' तथा जहाँ बाहर से जोड़ा जाय, उसे 'अध्याहार' कहते हैं।

शाखा का अवमार्जन—शोधन करता है; शाखा पर धूल, मलिनता या बीठ आदि को साफ़ करता है। वैदिक वाक्य के अनुसार उक्त पदसमूहों के पृथक् प्रयोजन होने से ये एक वाक्य न होकर भिन्न वाक्य हैं।

इसी प्रकार 'आयुर्यज्ञेन' इत्यादि वाक्य भी एक प्रयोजन की सिद्धि में परस्पर आकांक्षारहित होने के कारण भिन्न वाक्य हैं। यदि कहा जाय कि पूर्वसूत्र में हविर्निर्वाप के समान यहाँ भी क्लृप्ति (सिद्धि, शक्ति-सामर्थ्यप्राप्ति) एक दृष्ट प्रयोजन है, तब इन्हें भी एक वाक्य माना जाना चाहिए। यह कहना युक्त न होगा; क्योंकि यहाँ प्रसंग में 'क्लृप्तीर्वाचयति' वाक्य उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ है—क्लृप्तियों का वाचन—कथन करता है। यहाँ क्लृप्तियाँ बहुत कही गई हैं। एक निर्वाप के साथ अनेक क्लृप्तियों की समानता नहीं हो सकती। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' में आयुसम्बन्धी एक भिन्न क्लृप्ति है, तथा 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' में प्राणसम्बन्धी क्लृप्ति भिन्न। इसलिए वे सब पदसमुदाय एक वाक्य न होकर भिन्न वाक्य माने जाने चाहिए। ऐसे प्रसंगों में सर्वत्र वाक्यभेद शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है ॥४७॥ (इति वाक्यभेदाऽधिकरणम्—१५)।

(अनुषङ्गाऽधिकरणम्—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक वाङ्मय में पाठ है—'या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वंपिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा। या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया।'² यहाँ सन्देह है—क्या सन्दर्भ का 'तनूर्वंपिष्ठा' आदि भाग 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' का अनुषङ्ग है? अर्थात् यज्ञानुष्ठान के अवसर पर 'तनूर्वंपिष्ठा' आदि भाग को पहले भाग के समान 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि प्रत्येक के अनन्तर पढ़ना चाहिए? अथवा उक्त पाठ का अनुषङ्ग न मानकर लौकिक वाक्य बोलकर इसे पूरा

१. तुलना करें—मैत्रा० सं० १।२।७॥ तैत्ति० सं० [१।२।११] में 'या ते अग्नेऽयाशया रजाशया हराशया' इन तीनों का पाठ कर अनन्तर 'तनूर्वंपिष्ठा' पठित है। काठक सं० [१।२।८] में 'या ते अग्नेऽयाशया' इत्यादि पूरा सन्दर्भ देकर आगे 'या ते अग्ने रजाशया हराशया तनूर्वंपिष्ठा' इत्यादि पाठ उपलब्ध है।

२. इस सन्दर्भ का अर्थ है—हे अग्ने ! जो तुम्हारा 'अयाशया'—लोहे में सोने वाला शरीर है, वह अत्यन्त विस्तृत, छिपा हुआ देशव्यापी है, वह कठोर वचन को तट्ट करे, वह दीप्त धमकीभरे वचन को तट्ट करे। हे अग्ने ! जो तुम्हारा 'रजाशया'—चाँदी में सोनेवाला शरीर है, हे अग्ने ! जो तुम्हारा 'हराशया'—सुवर्ण में सोनेवाला शरीर है, इत्यादि।

करना चाहिए ? नियमानुसार 'तनूर्वाषिष्ठा' आदि भाग—'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि के अनन्तर पठित न होने से उसका वाक्यशेष न होने के कारण—वह अनुषङ्ग रूप में पठित न होना चाहिए। सूत्रकार ने समाधान किया—

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥

[अनुषङ्गः] 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि के साथ पीछे से सम्बद्ध होने-वाला वाक्यशेष [वाक्यसमाप्तिः] वाक्य की समाप्ति करता है, अर्थात् उसमें वाक्य पूरा होता है, [सर्वेषु] सब वाक्यों में [तुल्ययोगित्वात्] समान सम्बन्ध-वाला होने से।

'या ते अग्नेरजाशया' के आगे 'स्वाहा'-पर्यन्त जो पाठ है, वह 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' इन दोनों के आगे पूरा पढ़ना चाहिए, क्योंकि इससे ही वाक्यार्थ पूर्ण होता है। अग्नि देवता के विषय में इन तीनों वाक्यों का समान सम्बन्ध है।^१ एक पूर्ण वाक्यसमुदाय में अवान्तर वाक्य-समुदायियों का व्यवधान नहीं माना जाता; ऐसी दशा में 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' के साथ 'तनूर्वाषिष्ठा' आदि भाग का सम्बन्ध होने में किसी व्यवधान की आवश्यकता करना व्यर्थ है। अर्थ की परिपूर्ति प्रधान है, उसे पूर्ण करने के लिए समुदायी का व्यवधान उपेक्षित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि 'या ते अग्नेरजाशया' और 'या ते अग्ने रजाशया' इन दोनों के मध्य जो पाठ है, उसका सम्बन्ध दोनों के साथ है। एक के वह आगे पठित है, दूसरे के पहले। अर्थ को पूरा करने की भावना से इसका दोनों के साथ सम्बन्ध है, दोनों के साथ समान सान्निध्य है। आगे या पहले लिखा जाना उस दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता, जब वाक्यार्थ की पूर्ति उस पदसमुदाय के बिना न होती हो। इसलिए 'या ते अग्ने रजाशया' के प्रथम पठित भी 'तनूर्वाषिष्ठा' आदि पदसमुदाय यज्ञानुष्ठान के अवसर पर उसके आगे पूरा उच्चारण किया जायगा। जब उसका 'या ते अग्ने रजाशया तनूर्वाषिष्ठा गङ्गरेष्ठा' 'त्वेवं वचो अपावधीत् स्वाहा' इस प्रकार पाठ किया जायगा, तब ठीक उसके आगे 'या ते अग्ने हराशया' पठित है, उसके साथ भी इसका सान्निध्य सम्पन्न हो जायगा; तब उसका भी वाक्यशेष होने में कोई बाधा नहीं रहती। यह कहा जा चुका है कि पाठ का पूर्व या पर लिखा जाना वाक्य-शेष होने में

१. माध्यन्दिन [१।८] और काण्व [१।२।८] संहिताओं में तीनों सन्दर्भों का पृथक्-पृथक् पूरा पाठ उपलब्ध होता है। परन्तु इन संहिताओं में 'अयाशया, रजाशया, हराशया' पदों के स्थान पर यथाक्रम 'अयःशया, रजः-शया, हरिःशया' पाठ है।

बाधक रूप से कोई महत्त्व नहीं रखता ।

सन्निधि एवं आनन्तर्य का तात्पर्य भी यहाँ स्थान की समीपता न होकर वाक्यार्थ की अनुकूलता व पूर्ति के किसी पदसमुदाय की अपेक्षा होना है । जिस पदसमुदाय को अर्थ की पूर्ति के लिए अन्य पदसमुदाय की अपेक्षा है, वही उसका सान्निध्य है; अनपेक्षित पदसमुदाय का व्यवधान वहाँ तिरस्कृत हो जाता है । इसी आधार पर आचार्यों का कथन है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

जिस पद या पदसमुदाय का जिसके साथ अर्थ-कृत सम्बन्ध है, वह दूर बैठा हुआ भी उसके समीप ही है । जिनमें अर्थ के आधार पर परस्पर सम्बन्ध नहीं है, उनका समीप होना भी व्यर्थ है । 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' के दूरस्थित होने पर भी 'तनूर्वाषिष्ठा गह्वरेष्ठा' आदि के साथ उनका अर्थकृत दृढ़ सम्बन्ध है; 'या' सर्वनाम पद का अर्थ अपूर्ण रह जाता है, जब तक 'तनूर्वाषिष्ठा' आदि के साथ सम्बन्ध न जोड़ा जाय । फलतः आगे पठित दोनों (रजाशया, हराशया) पदसमुदायों के साथ 'तनूर्वाषिष्ठा' आदि का अनुषङ्ग माना जाना चाहिए ।

आकांक्षा (अपेक्षा), योग्यता, आसक्ति (सन्निधि) वाक्यार्थ-बोध में सहायक होते हैं, यह ठीक है; परन्तु जहाँ आकांक्षा नहीं है, ऐसे निराकांक्ष पदसमुदाय का सान्निध्य रहने पर, अर्थ को पूर्ण करने में समर्थ पदसमुदाय देखा जाता है । जैसे—

चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता

पुनातु, अच्छिद्रेण पवित्रेण वतोः सूर्यस्य रश्मिभिः ।'

यहाँ तीन पृथक् पदसमुदाय हैं, जिनके अन्त में 'पुनातु' क्रियापद है; ये पूर्ण अर्थ प्रकट करने में समर्थ हैं, किसी की आकांक्षा नहीं करते । परन्तु 'अच्छिद्रेण'

१. द्रष्टव्य—तैत्ति० सं० १।२।१॥ इस मन्त्र का वित्तियोग अग्निष्टोम में यजमान के प्राग्वंश नामक मंडप में प्रवेश के समय, प्राग्वंश के बाहर दर्म-समूह से यजमान के पवित्रीकरण में है । मन्त्र का अर्थ है—हे यजमान ! ज्ञान का स्वामी तुझे पवित्र करे, वाणी का स्वामी तुझे पवित्र करे, सविता देव तुझे पवित्र करे—छिद्र-(दोष)-रहित 'पवित्र' से, वास करानेवाले सूर्य की रश्मियों से । दर्मपुञ्ज का नाम 'पवित्र' है ।

वाजसनेय-माध्यन्दिन शाला (यजुर्वेद ४।४) में उक्त मन्त्र के 'त्वा' पद के स्थान पर 'मा' पाठ है, जिसका अर्थ है—'गुम्हे' ।

आदि पदसमुदाय आकांक्षा करता है; तब प्रथम तीन वाक्यों में से किसके साथ इसका सम्बन्ध माना जाय ? यह जिज्ञासा उभरती है। समाधान है—जिस वाक्य के साथ अव्यवहित सान्निध्य है, उसी के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। 'देवस्त्वा सविता पुनातु' के साथ सम्बन्ध होने से वह निराकांक्ष हो जाता है।

ऐसी दशा में पहले दो वाक्यों के साथ 'अच्छिद्रेण' आदि का सम्बन्ध न होगा। पर वस्तुतः विचारपूर्वक देखा जाय, तो पहले वाक्यों को भी निराकांक्ष कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। भले ही वे वाक्य की दृष्टि से निराकांक्ष हों, और एक सीमित अर्थ को भी पूरा करते हों, पर पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करने में वे साकांक्ष ज्ञात होते हैं। जब कहा जाता है—'चित्पतिस्त्वा पुनातु'—ज्ञान का स्वामी तुम्हें पवित्र करे, तब आकांक्षा रहती है—केन साधनेन पुनातु ? किस साधन से पवित्र करे ? क्योंकि साधन के बिना पवित्रीकरण कैसे सम्भव होगा ? तब 'अच्छिद्रेण पवित्रेण' आदि पदसमुदाय उस आकांक्षा को पूरा करता है। ऐसी दशा में प्रत्येक प्रथमपठित वाक्य के साथ 'पुनातु' क्रिया के अनन्तर इसका ('अच्छिद्रेण' आदि का) अनुषङ्ग माने जाने में किसी प्रकार की शास्त्रीय बाधा प्रतीत नहीं होती ॥४८॥ (इति अनुषङ्गाधिकरणम्—१६)।

(व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम्—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—यत सूत्र में निर्धारित मान्यता के अनुसार क्या 'सं ते वायुवतैन गच्छताम्, सं यज्ञत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपतिराशिषा' [मंत्रा० सं०, १।२।१५] सन्दर्भ में 'गच्छताम्' क्रियापद का अनुषङ्ग अगले वाक्यों में होना चाहिए ? सन्निकृष्ट वाक्य में 'अङ्गानि' बहुवचनान्त पद होने से, एकवचनान्त 'गच्छताम्' क्रियापद का उसके साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं। उससे व्यवहित होने पर भी अन्तिम वाक्य में 'यज्ञपतिः' एकवचनान्त पद के साथ अनुषङ्ग प्राप्त होता है। आचार्य सूत्रकार ने इस प्रसङ्ग में समाधान किया—

व्यवायान्नानुषज्येत ॥४९॥

[व्यवायात्] व्यवधान होने से, पूर्वपठित का [न] नहीं [अनुषज्येत] अनुषङ्ग = सम्बन्ध होवे।

गत सूत्र में समान रचनाक्रम के पदसमुदाय को मध्य में आ जाने पर व्यवधान-कोटि में न मानकर आगे पठित या पूर्वपठित पदसमुदाय के साथ अनुषङ्ग स्वीकार किया गया है। परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में ऐसा नहीं है। प्रथम पदसमुदाय में एकवचनान्त 'गच्छताम्' क्रियापद एकवचनान्त 'वायुः' कर्तृपद के साथ प्रयुक्त हुआ ठीक है। अगले पदसमुदाय में 'अङ्गानि' बहुवचनान्त कर्तृपद होने से रचनाक्रम पूर्वपठित वाक्य से विषम हो गया, अतः इस व्यवधान की उपेक्षा

करना उचित न होगा। इसलिए 'गच्छताम्' क्रियापद का अनुषङ्ग अन्तिम वाक्य में एकवचनान्त 'यज्ञपतिः' कर्तृपद के साथ नहीं होगा। वहाँ 'गच्छताम्' क्रियापद का अध्याहार करना ही संगत है ॥४८॥ (इति व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम्—१७) ॥

इति जैमिनीयमीमांसावर्शनविद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्थ (उपोद्घाताभिधेयः)
प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

(अङ्गापूर्वभेदाधिकरणम्—१)

प्रथम पाद में कतिपय पदों के गौण-प्रधान भाव, ऋक्-यजुः-साम का विभाग तथा पदों के पूर्वापर सम्बन्ध के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। चालू द्वितीय पाद में कतिपय आख्यात-पदों के आधार पर कर्मभेद का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है।

अग्निष्टोम कर्म के अन्तर्गत कतिपय वाक्य प्रयुक्त हैं—‘सोमेन यजेत’ सोम से याग करे। ‘दाक्षिणाणि जुहोति’ दक्षिणा-सम्बन्धी होम करता है। ‘हिरण्यमात्रेयाय ददाति’ आत्रेय के लिए हिरण्य = सुवर्ण देता है। यहाँ याग-होम-दान आदि विभिन्न अर्थोंवाले धातुओं का निर्देश है। इसमें संशय है—क्या ये सब मिलकर एक कार्य करते हैं? अर्थात् सब मिलकर एक अपूर्व को सम्पन्न करते हैं, अथवा पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं? अर्थात् याग-होम-दान से अलग-अलग अपूर्व की उत्पत्ति होती है?

लोक में दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। एक छोटी घड़ोंची (पानी का घड़ा ऊँचे पर रखने का आधार) लकड़ी या लोहे की बनी तीन पायों पर आधारित रहती है। उपयोग की अन्य विविध वस्तुएँ ऐसी बनाई जाती हैं, जो अनेक पायों पर आश्रित रहती हैं। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति मिलकर छान उठाना, नाव खींचना आदि विविध प्रकार के एक कार्य का सम्पादन करते हैं। दीवार में गड़ी खूँटी या कील, अथवा छत में लगा कुण्डा, ये अकेले ही पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन करते हैं। इस लोक-व्यवहार की स्थिति के आधार पर पूर्वोक्त आख्यात-पदों के विषय में संशय होता है—ये मिलकर एक कार्य सम्पादन करते हैं अथवा पृथक्-पृथक्?

कतिपय आधारों पर यह स्पष्ट होता है कि ये मिलकर एक कार्य का सम्पादन करते हैं।

(क) अग्निष्टोम आदि कर्म शास्त्र से अबोधित हों, ऐसी बात नहीं है। ये कर्म विविध क्रियाओं से पूरित हैं, अनेक क्रियाओं का समुदाय। कर्मानुष्ठान

का कोई दृष्ट फल प्रत्यक्षादि से दिखाई नहीं देता। शास्त्रबोधित अनुष्ठान के निरर्थक होने की शंका भी नहीं की जा सकती; तब इसके अदृष्ट (अपूर्व) फल की कल्पना की जाती है। सब क्रियाओं के मिलकर एक ही कार्य (अपूर्व, अदृष्ट) के उत्पन्न करने में लाघव है। पृथक्-पृथक् कार्य मानने पर अनेक अपूर्वों की कल्पना, गौरव (भारभूत) दोष से दूषित होगी।

(ख) 'यजति, जुहोति, ददाति' क्रियापदों के आरम्भिक 'यज्, हु, दा' धातु-भाग का अर्थ 'याग-होम-दान' है, जो उनके परस्पर अलग अस्तित्व को प्रकट करता है। परन्तु उनका (क्रियापदों का) अन्तिम 'त' या 'ति' प्रत्यय-भाग केवल एक अर्थ 'भावना' को अभिव्यक्त करता है। सम्पूर्ण क्रियापद का यथाक्रम अर्थ होगा—यागानुकूल भावना, होमानुकूल भावना, दानानुकूल भावना। देखते हैं, याग आदि के परस्पर पृथक् होने पर भी उनका मिलकर किया गया एकमात्र कार्य 'भावना' है। इससे ज्ञात होता है, ये आख्यात-पद मिलकर एक कार्य सम्पादन करते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए बताया—

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥

[शब्दान्तरे] शब्द का अन्तर—भेद होने पर यजति-जुहोति-ददाति के रूप में, [कर्मभेदः] कर्म का भेद हो जाता है, [कृतानुबन्धत्वात्] प्रत्ययार्थ भावना का धात्वर्थ के साथ निश्चित किया गया सम्बन्ध होने से।

'यज्' धातु से अनुबद्ध = जुड़ा हुआ है 'त' प्रत्यय। धातु का अर्थ है—याग, प्रत्यय का अर्थ है—भावना। यह भावना याग के साथ जुड़ी है; होम आदि के साथ नहीं। 'हु' धातु से जो प्रत्यय 'ति' जुड़ा है, उसका अर्थ 'भावना' होम से अनुबद्ध है, याग आदि से नहीं। इसी प्रकार 'दा' धातु से अनुबद्ध प्रत्यय का भावना अर्थ धात्वर्थ दान के साथ जुड़ा है, याग-होम के साथ नहीं। अतः यागानुकूल भावना, होमानुकूल भावना, दानानुकूल भावना एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यजति-जुहोति-ददाति इन विभिन्न आख्यात-पदों से बोधित करने के कारण ये कर्म—याग-होम-दान एक-दूसरे से भिन्न हैं; इनके अनुष्ठान से जो 'अपूर्व' उत्पन्न होते हैं, वे भी पृथक्-पृथक् हैं। उनके मूल में यद्यपि प्रत्ययार्थ 'भावना' पद एक है, पर वे भावना यागादि के अनुसार सब पृथक् हैं। फलतः ये मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं, ऐसा नहीं है। इनसे विभिन्न अपूर्वों की उत्पत्ति होती है, यही व्यवस्था मान्य है ॥१॥ [इति अङ्गापूर्वभेदाधिकरणम्—१]

(समिदाद्यपूर्वभेदाधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सूत्र में क्रियाभेद से अपूर्व का भेद बताया; इसका तात्पर्य होता है—जहाँ क्रियाभेद न हो, वहाँ अपूर्व का भेद न होगा। प्रयोग है—‘समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इधो यजति, बहिर्यजति, स्वाहाकारं यजति’ [तं० सं० २।६।१], यहाँ पाँच बार एक ही क्रियापद ‘यजति’ का प्रयोग है, इससे एक ही अपूर्व की उत्पत्ति माननी चाहिए। ऐसा मानने पर ‘यजति’ क्रियापद का अभ्यास निरर्थक होगा, यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि अनेक बार उच्चारण किया गया भी पद किसी अन्य अर्थ का बोधक नहीं होता; न केवल पाँच बार, सौ बार कहने पर भी पद का अर्थ वही जाना जाता है, जो एक बार कहने पर। इसलिए अभ्यास के निरर्थक होने की आशंका निराधार है। वैसे भी अभ्यास समित् तनूनपात आदि देवताओं का विधायक होने से अनर्थक नहीं है। अतः इनसे एक अपूर्व होना प्राप्त होता है। आचार्य ने समाधान किया—

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

[एकस्य] एक ‘यजति’ क्रियापद का [एवम्] इस प्रकार [पुनः] फिर—द्वारा [श्रुतिः] श्रवण [अ-विशेषात्] विशेष-भेद—कर्मभेद न माने जाने से [अनर्थकम्] अनर्थक [हि] निश्चित रूप से [स्यात्] हो जाय।

‘समिधो यजति, तनूनपातं यजति’ इत्यादि प्रसंग में पाँच बार पठित एक ही क्रियापद का इस प्रकार पुनः-पुनः श्रवण [अभ्यास] इस तथ्य का प्रयोजक है—ये सब याग परस्पर भिन्न कर्म हैं। यदि कर्मभेद न माना जाय, तो यह पुनः श्रवण (= ‘यजति’ का अभ्यास) निश्चित ही अनर्थक होगा। अतः कर्मभेद होने से ये सब कर्म पृथक्-पृथक् अपूर्व को उत्पन्न करते हैं, एक ही अपूर्व को नहीं।

‘समिधो यजति’ इत्यादि वाक्य ‘समित्, तनूनपात’ आदि देवता का विधान करने से सार्थक हैं, यह कथन संगत नहीं; क्योंकि ‘समिधो यजति’ आदि सब याग ‘दर्श-पौर्णमास’ प्रकृति-याग के विकृति अर्थात् अङ्गभूत याग हैं। समित् आदि ये पाँचों याग ‘प्रयाज’ नाम से कहे जाते हैं। प्रकृति अर्थात् प्रधान याग के पूर्व जिन यागों का अनुष्ठान किया जाय, उनकी संज्ञा ‘प्रयाज’ है; जो प्रकृति-याग के अनन्तर किये जाते हैं, उन्हें ‘अनुयाज’ कहते हैं। दर्श-पौर्णमास प्रकृति-याग के पाँच प्रयाज और तीन अनुयाज होते हैं। सभी प्रकृति यागों में ऐसा नियम नहीं है; इनमें न्यूनताधिकता रहती है।

यह व्यवस्थित होने पर कि समित् आदि याग दर्श-पौर्णमास के विकृति हैं, इनको देवता का विधायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि विकृति याग का

देवता वही होता है, जो प्रकृति याग का बताया गया हो। 'श्वान्नेयोऽष्टाकपालः' [तै०सं० २।६।३] इत्यादि श्रुति के द्वारा दर्श-पौर्णमास याग में देवता अग्नि है; तथा इसी के अनुसार अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य है। ऐसी स्थिति में यदि 'समिधो यजति' इत्यादि को देवता या द्रव्य का विधायक मानकर इनकी सार्थकता कही जाती है, तो देवता व द्रव्यविषयक विकल्प प्राप्त होता है; अर्थात् चाहे यहाँ अग्नि के उद्देश्य से याग किया जाय, चाहे समित् देवता के। इसी प्रकार द्रव्यविषयक विकल्प होगा, चाहे अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य का उपयोग किया जाय, चाहे समित् द्रव्य का।

परन्तु यह विकल्प न्याय्य नहीं है; क्योंकि इन 'समिधो यजति' इत्यादि में समित् आदि देवता या द्रव्य केवल इन वाक्यों अथवा प्रकरण से प्राप्त हैं, श्रुतिबोधित नहीं। वाक्य, प्रकरण आदि की अपेक्षा श्रुति के बलवान् होने से वाक्य आदि की बाधा हो जायगी। ऐसी दशा में यागविषयक किसी द्रव्य या देवता आदि गुणविशेष के विधायक न होने से ये वाक्य अनर्थक हो जायेंगे। अतः इनकी सार्थकता के लिए आवश्यक है, इन्हें किसी विशेष गुण का विधायक माना जाय। आचार्यों ने बताया, ये वाक्य समित् तनूनपात आदि देवता व द्रव्य के याग से सम्बन्ध के विधायक हैं। यागबोधक 'यजति' क्रियापद के सर्वत्र समान होने पर भी, जो याग समित् देवता व द्रव्य के सम्बन्ध से किया जाता है, वही तनूनपात देवता के सम्बन्ध से नहीं किया जाता, क्योंकि समित् और तनूनपात आदि देवता व द्रव्य परस्पर भिन्न हैं। याग के अनुष्ठान पर ही देवता व द्रव्य का सम्बन्ध याग के साथ किया जा सकता है। इसी सम्बन्ध का विधान 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों से किया है। अतः ये परस्पर भिन्न कर्म हैं, एवं विभिन्न अपूर्व के निमित्त हैं।

प्रस्तुत वाक्यों से देवता व द्रव्य विधान किया जाना वक्ष्यमाण कारण से भी संगत नहीं है। शास्त्र में प्रायः सर्वत्र देवता का विधान चतुर्थी विभक्ति तथा तद्धित प्रत्यय द्वारा किया जाता है, जैसे—'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' इत्यादि में देवता का चतुर्थी विभक्ति से निर्देश है, 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि में तद्धित प्रत्यय द्वारा। द्रव्य का निर्देश सर्वत्र तृतीया विभक्ति से होता है, जैसे—'सोमेन यजेत, दध्ना जुहोति' इत्यादि। परन्तु 'समिधो यजति' इत्यादि में यह कुछ नहीं है। ये 'समिधः' आदि समस्त—द्वितीया विभक्त्यन्त—कर्म-मद हैं, जो अपने स्वतन्त्ररूप में कर्म होने के प्रयोजक हैं—समिद्याग, तनूनपात याग आदि।

'यजति' के अभ्यास की सार्थकता के लिए यह कहना भी संगत न होगा कि पहला वाक्य 'समिधो यजति' याग का विधान करता है, और अगले वाक्य उसका अनुवाद है। क्योंकि 'दर्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत' यह श्रुति-विधिवाक्य

याग का विधायक है; 'समिधो यजति' इत्यादि पाँचों वाक्य इसी प्रधान विधि के अङ्गभूत प्रयाज होने से इसके अनुवाद हैं। इसलिए प्रथम वाक्य को याग का विधायक कहना संमत नहीं। फलतः 'यजति' के अभ्यास की सार्थकता के लिए यह उपाय निराधार है। इसलिए सब ओर से निरूपाम होकर आचार्यों का यह युक्ताव ही मान्य है कि ये वाक्य देवता व द्रव्य का याग के साथ सम्बन्ध का विधान करते हैं। प्रत्येक 'यजति' पद के साथ भिन्न देवता आदि का सम्बन्ध होने से ये सब परस्पर भिन्न याग हैं, एवं प्रत्येक विभिन्न अपूर्वों को उत्पन्न करते हैं; सब मिलकर एक अपूर्व को नहीं ॥२॥ (इति समिदाद्यपूर्वभेदाधिकरणम्—२)।

(आधाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाऽधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—शास्त्र में निम्नलिखित प्रसंग आते हैं—

'यद्वाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्च अच्युतो भवति'।

[तै० सं० २।६।३]

यह जो अग्नि देवता के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत (त्रुटिरहित) धर्मवाला होता है।

अन्यत्र कहा—

'तावन्नूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नो उपांशु पौर्णमास्यां यजन'

वे अग्नि और सोम देवता बोले—हमारे लिए आज्य (घृत) का ही पौर्णमासी में उपांशु (ध्वनिरहित मन्त्र द्वारा) यजन करे।

'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्'।

[तै० सं० २।५।२]

उन अग्नि और सोम देवता के लिए यह अग्नि और सोम देवतावाला एकादशकपाल पुरोडाश पौर्णमास में दिया। फिर कहा—

'ऐन्द्रं दधि अमावास्यायाम्' [तै० सं० २।५।४]

इन्द्र देवतावाला दही अमावास्या में होता है। अन्यत्र वाक्य है—

'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'।

इन्द्र देवतावाला दूध अमावास्या में होता है। इसी प्रकार—

'आधारमाधारयति' [तै० सं० २।५।११]

आधार कर्म के नाम' को धार बाँधकर छोड़ता है।

'आज्यभागौ यजति' [तै०सं० २।६।२]

दो आज्य भागों का यजन करता है।

'स्विष्टकृते समवद्यति' [तै०सं० २।६।६]

स्विष्टकृत् देवता के लिए अवदान करता है।

'पत्नीसंयाजान् यजति'

पत्नीसंयाजों का यजन करता है।

'समिष्टयजुर्जुहोति' [शत०ब्रा० १।६।२।२५]

समिष्टयजु का होम करता है।

आगे पुनः [तै०सं० २।६।६] में लेख है—

'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते,

'य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते'

[तै०सं० २।६।६]

जो इस प्रकार जाननेवाला व्यक्ति पौर्णमास याग करता है; जो इस प्रकार जाननेवाला अमावास्या याग करता है।

इन प्रसंगों में संशय इस प्रकार है—ये सब कर्म—आग्नेय पुरोडाश से लगाकर 'ऐन्द्रं पयः' तक—समान रूप से प्रधान कर्म हैं? तथा आधार आदि कर्म प्रधान के समीप होने से उसके उपकारक अङ्ग हैं? दूसरा संशय यहाँ इस प्रकार है—'य एवं विद्वान्' ये दोनों संयुक्त वाक्य प्रकृत में कहे गये कर्मों के अनुवादक हैं? अथवा ये अपूर्व कर्म के विधायक हैं? तथा अग्न्य कर्म गुणविधि हैं?

प्रतीत होता है—उक्त प्रसंग में 'अच्युतो भवति, प्रायच्छत्, आधारयति, अवद्यति, जुहोति' आदि विधि के बोधक क्रियापद एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ इस प्रकार विधिबोधक क्रियापद परस्पर पृथक् होते हैं, वे अपूर्वोत्पादक कर्म हैं, यह प्रथम अधिकरण में अभी कहा गया है। द्वितीय अधिकरण में अभ्यास होने पर कर्मभेद माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी 'यजन्, यजति, यजते' आदि 'यज्' धातु का अभ्यास—बार-बार कहना—स्पष्ट है। इस कारण इन कर्मों को बराबरी

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, १।४।४॥

२. द्रष्टव्य—यत्पत्नीसंयाजा इज्यन्ते, शत०ब्रा० १।६।२।७।३०॥

अथ पत्नीः संयाजयन्ति, शत०ब्रा० २।६।२।४॥

के प्रधान कर्म मानना उपयुक्त होगा। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥

[तु] सूत्र में यह पद निश्चय अर्थ को कहता है। [पौर्णमास्याम्] पौर्णमासी पद साहचर्य से अमावास्या का भी बोधक है; अर्थ हुआ—पौर्णमासी और अमावास्या पद जिन वाक्यों—‘यं एवं विद्वान्’ इत्यादि—में पढ़े हैं; वे वाक्य—[प्रकरणम्] प्रकरण-प्राप्त ‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालः’ आदि वाक्यों से विधान किये गये कर्मों के अनुवादक [तु] ही है। क्योंकि [रूपावचनात्] इन वाक्यों में याग के रूप = द्रव्य व देवता का कथन न होने से।

कत्यायन श्रौत सूत्र [१।२।२] में याग का स्वरूप बताया है—‘द्रव्यं देवता त्यागः’ देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ‘याग’ कहा जाता है। ‘य एवं विद्वान्’ आदि वाक्यों में—इन तीनों में से त्यागरूप अंश का निर्देश ‘यजते’ क्रियापद से हो जाता है, शेष द्रव्य और देवता का कथन इन वाक्यों में नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि इन वाक्यों को अपूर्वोत्पादक विधि के रूप में प्रधान याग माना जाता है, तो यह निरर्थक होगा, क्योंकि यह त्याग किस द्रव्य वा किस देवता के लिए है, यह तो ज्ञात ही नहीं; उक्त वाक्यों में—इनमें से किसी का—निर्देश ही नहीं, तब केवल त्याग का कथन निष्प्रयोजन होगा। इसलिए यह त्याग किस द्रव्य का किस देवता के लिए है, यह प्रकरण से जानना होगा। प्रकरण-पठित ‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालः’ से लगाकर ‘ऐन्द्रं यः’ तक त्याग की भावना से देवता और द्रव्य दोनों का निर्देश होने से ये अपूर्वोत्पादक छह प्रधान याग हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर कहा गया है—‘य एवं विद्वान्’ इत्यादि। इस प्रकार ये विद्वद्-वाक्य ‘यदाग्नेयः’ इत्यादि वाक्य विहित छह यागों के अनुवादक हैं। इस रूप में वे सार्थक हैं।

यह कहना संगत नहीं कि विद्वद्वाक्यों में ‘पौर्णमासी अमावास्याम्’ एववचनान्त पदों से बहुत यागों का ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि इन पदों का एववचनान्त प्रयोग यागों के एक समुदाय के आधार पर है; जैसे शास्त्र व लोक में वन, कुल, यूथ, समा, परिषद् आदि पदों का प्रयोग सर्वमान्य है ॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि विद्वद्वाक्य आग्नेय आदि याग के अनुवादक माने जाते हैं, तो समीप में पठित होने से प्रयाज आदि याग का भी उन्हें अनुवादक माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति सान्निध्य समान हेतु से प्रयाज आधार आदि को भी प्रधान कर्म क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने समाधान किया—

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

[विशेषदर्शनात्] विकृतियागों में प्रयाज आदि के अतिदेश-विशेष के देखे जाने से [च] भी [सर्वेषाम्] आग्नेय, आपा प्रयाज आदि सबके [समेषु] समान-रूप से प्रधान होने पर [हि] निश्चयपूर्वक, विकृतियागों में प्रयाज आदि भी [अप्रवृत्तिः] अप्राप्ति [स्यात्] हो जावे ।

आग्नेय याग प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म का अतिदेश नहीं होता। यदि सान्निध्य से प्रयाज आदि को प्रधान कर्म माना जाता है, तो सौर्य आदि विकृतियागों में प्रयाज आदि की प्राप्ति नहीं होगी; परन्तु सौर्य याग में शास्त्र द्वारा प्रयाज की प्राप्ति बताई है। तैत्तिरीय संहिता [२।३।२] में निर्देश है—‘यो ब्रह्मवर्चंसकामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत्’ जो ब्रह्मवर्चंस की कामना-वाला होवे, उसके लिए इस सूर्य देवतावाले चरु से याग करे। इस वाक्य-निर्दिष्ट सौर्य याग में अतिदेश है—‘प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति।’ गुञ्जा (रत्ती = चूटली) परिमित सुवर्ण के दाने का प्रतिप्रयाज होम करता है, इस वचन से प्रकृत सौर्य याग में प्रतिप्रयाज कृष्णल की आहुति देने का विधान है। यदि प्रयाज आदि प्रधान कर्म हों, तो उनकी प्राप्ति प्रकृत सौर्य विकृतियाग में नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्रधान कर्म का अतिदेश विकृतियागों में नहीं होता, यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है। इसलिए विकृतियागों में प्रयाज आदि का श्रवण होने से इन्हें आग्नेय आदि प्रधान कर्मों के सान्निध्यमात्र से प्रधान कर्म नहीं माना जायगा। ऐसी स्थिति में ‘य एवं विद्वान्’ इत्यादि विद्वद्वाक्य प्रयाज आदि का अनुवादक नहीं माना जायगा; केवल आग्नेय आदि छह प्रधान कर्मों का ही अनुवादक होगा ॥४॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—विद्वद्वाक्य को अनुवादक इसलिए बताया गया कि इसमें याग के रूप द्रव्य, देवता का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत यह क्यों न माना जाय कि विद्वद्वाक्य अपूर्व विधि है, प्रधान कर्म है? उसके लिए द्रव्य, देवता गुण का विधान ‘यदाग्नेय’ आदि वाक्यों से होता है; अतः ‘यदाग्नेय’ आदि को विद्वद्वाक्य प्रधान कर्म की गुणविधि क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥

[तु] सूत्र में यह पद गत सूत्र में निर्दिष्ट पक्ष को ठुकराता है, [गुणः] ‘यदाग्नेय’ आदि गुण कर्म हैं, प्रधान कर्म नहीं। [श्रुतिसंयोगात्] ‘स एवं विद्वान्’ इत्यादि श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से।

‘य एवं विद्वान्’ इत्यादि पीठमासी, अमावास्या पदों से याग के विशिष्ट

काल का निर्देश कर उस काल में अपूर्व कर्म का विधान करता है। वहाँ द्रव्य, देवता-गुण की वृत्ति उक्त श्रुति (य एवं विद्वान्) के सम्बन्ध से 'यदाग्नेय' आदि वाक्य करता है। अतः ये वाक्य गुणविधि और विद्वद्वाक्य अपूर्वविधि अर्थात् प्रधान कर्म माने जाने चाहिए ॥५॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

**चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्
तस्य तस्योपदिश्येत ॥६॥**

[चोदना] चोदक है—प्रेरक है—कर्मविधायक वाक्य है—'यदाग्नेयोऽष्टा-कपालः' इत्यादि, [वा] निश्चित ही; हेतु दिया—[गुणानां युगपत् शासनात्] उक्त वाक्य में गुणों (द्रव्य और देवता) के एकसाथ विधान-कथन करने से। [चोदिते हि] क्योंकि यदि ऐसा माना जाय कि विद्वद्वाक्य कर्मविधि है, और गुण का कथन 'यदाग्नेयः' इत्यादि वाक्य से होने के कारण वह गुणविधि है, तो [तदर्थत्वात्] विद्वद्वाक्यविहित कर्म के लिए होने से [तस्य तस्य] उस-उस अग्नि देवता और अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य का पृथक्-पृथक् [उपदिश्येत] उपदेश किया जाना चाहिए।

शास्त्रीय मान्यता है, गुणविधिवाक्य अन्य कर्मविधि के लिए द्रव्य या देवता किसी एक ही गुण अथवा किसी एक विशेषता का ही विधान कर सकता है, एक वाक्य दो गुणों का विधान नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए आधार-संज्ञक कर्म है—'आधारमाधारयति'—आधार का आधारण (सेचन) करता है। आधारण की रीति विशेष है। विशेषता है—आधारण का ऋजुत्व और सातत्य। इन दो गुणों का पृथक्-पृथक् दो वाक्यों से विधान किया जाता है—'ऋजुमाधारयति, सततमाधारयति'। आधारण में आज्य की धारा ऋजु=सरल, सीधी होनी चाहिए; तथा सतत—निरन्तर चलती रहनी चाहिए, बीच में टूट-टूटकर आधारण नहीं होना चाहिए। यह शास्त्रीय मान्यता के अनुसार है।

अब यदि विद्वद्वाक्य को कर्मविधि मानकर 'यदाग्नेय' वाक्य को उसका गुण-विधि माना जाता है, तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त शास्त्रीय मान्यता के यह विरुद्ध हो जाता है। कारण यह है कि 'यदाग्नेय' एक ही वाक्य 'अग्नि' देवता और 'अष्टाकपाल पुरोडाश' द्रव्य दोनों रूपों का युगपत् विधान करता है; अतः इसे गुणविधि मानना सम्भव नहीं। यह वाक्य द्रव्य और देवता उभयरूपविशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक है। फलतः विद्वद्वाक्य ('य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्य) में याग के रूप-द्रव्य और देवता का कथन न होने से पूर्णमासी-अमावास्या संयुक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं है। यदि विद्वद्वाक्यस्थित पूर्णमासी-अमावास्या पद अभिधावृत्ति से आग्नेयादि यागों का कथन नहीं करते, तो लक्षणा वृत्ति से

कथन करने में कोई दोष नहीं है। ऐसे प्रयोग मान्य समझे जाते हैं। जैसे—‘अग्नी तिष्ठति’ आग में ठहरता है; ‘अवटे तिष्ठति’ गड्ढे में ठहरता है; इन वाक्यों का तात्पर्य अभिधावृत्ति से संगत न होने पर लक्षणावृत्ति से यही होता है कि आग के समीप या गड्ढे के समीप ठहरता है। इसमें असामञ्जस्य नहीं माना जाता। फलतः ‘य एवं विद्वान्’ इत्यादि विद्वद्वाक्य, आग्नेयादि प्रधान कर्मों का अनुवादक है, यही मान्यता सामञ्जस्यपूर्ण है ॥६॥

‘यदाग्नेयः’ आदि वाक्यों के गुणविधि न होने में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥

[व्यपदेशः] व्यवहार एवं कथन [च] भी [तद्वत्] वैसा ही है, जिससे आग्नेय आदि यागों के समुच्चय का बोध होता है।

इन यागों के विषय में वाक्य है—‘उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते—आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे’। निश्चय ही ये उग्र हवियाँ अमावास्या-कर्म एकसाथ अनुष्ठित की जाती हैं, जो पहली हवि आग्नेय है, और उसके आगे की दो ऐन्द्र हवियाँ। यह कथन इन हवियों—यागों के समुच्चय को प्रकट करता है।

यदि ‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालः’ आदि वाक्यों को ‘य एवं विद्वान्’ आदि वाक्य-विहित पौर्णमासी-अमावास्या-याग में गुणविधि माना जाय, तो आग्नेय आदि हवियों के गुण होने पर आग्नेय पुरोडाश, ऐन्द्र-दधि तथा ऐन्द्र-पय हवियों में विकल्प प्राप्त हो जायगा—पौर्णमासी-अमावास्या याग चाहे आग्नेय पुरोडाश से सम्पन्न किया जाय, चाहे ऐन्द्र दधि से, चाहे ऐन्द्र पय से। ऐसी अवस्था में ‘आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे’ यह कथन असंगत हो जायगा, क्योंकि विकल्प होने पर हवियों का पौर्वापर्य क्रम—जो ‘प्रथम’ और ‘उत्तर’ पदों से स्पष्ट बताया गया है—उपपन्न न होगा। यह हवियों के समुच्चय में ही सम्भव है। अतः ‘यदाग्नेयः’ आदि यागों को गुणविधि मानना संगत नहीं ॥७॥

सूत्रकार उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥

[लिङ्गदर्शनात्] आग्नेय आदि हवियों के समुच्चय में लिङ्ग के उपलब्ध होने से [च] भी, आग्नेय आदि हवियों का समुच्चय है, विकल्प नहीं।

‘लिङ्ग’ पद का तात्पर्य है—प्रमाणभूत उल्लेख। शास्त्र में ऐसे प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनमें आग्नेयादि हवियों का समुच्चय स्पष्ट होता है। उल्लेख है—‘अतुदंश पौर्णमास्यामद्भृतयो ह्यन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्’। चौदह

आहुतियाँ पौर्णमास याग में दी जाती हैं, और तेरह आहुतियाँ अमावास्या याग में। पौर्णमास-याग की चौदह आहुतियाँ इस प्रकार हैं—५ प्रयाज, ३ अनुयाज, ३ प्रधान याग की आहुतियाँ (= आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय उपांशुयाग, अग्नीषोमीय पुरोडाश), २ आज्य भाग, १ स्विष्टकृत् = १४। अमावास्या-याग की १३ आहुतियाँ हैं—५ प्रयाज, ३ अनुयाज, २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत् = ११, तथा प्रधान याग के तीन द्रव्यों में से १ आग्नेय पुरोडाश की और ऐन्द्र दधि तथा ऐन्द्र पय दोनों द्रव्यों को मिलाकर एक आहुति २+११=१३। ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय का देवता एक इन्द्र होने के कारण दोनों द्रव्यों को मिलाकर आहुति एक दी जाती है। इस कारण अमावास्या-याग में प्रधान आहुतियाँ केवल दो होती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में इस कथन का कारण यह है कि पौर्णमास-याग में चौदह और अमावास्या-याग में तेरह आहुतियों की संख्यापूर्ति उसी अवस्था में हो सकती है, जब 'यदान्नेयः' आदि वाक्यों को प्रधान कर्म का विधायक माना जाता है। यदि विद्वद्वाक्य का इन्हें गुणविधि माना जाय, तो 'य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्य में इन आहुतियों के लिए कोई विधायक पद नहीं है। यह इस मान्यता में लिङ्ग है कि 'यदान्नेयः' आदि वाक्य गुणविधि नहीं हैं; प्रत्युत अपूर्व कर्म के विधायक हैं ॥८॥ (इति आधाराद्यग्नेयादीनामङ्गलिङ्गिभावाधिकरणम्—३)।

(उपांशुयाजाऽपूर्वताऽधिकरणम्—४)

वैदिक वाङ्मय में वाक्य हैं—“जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते, यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति” [तैत्ति० सं० २।६।६] इति। “विष्णु-रुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय; अग्निषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय” इति। इस प्रकार यज्ञ का किया जाना आलस्यजनक ही है, जो क्रमानुसार दो पुरोडाशों का यजन निरन्तर करता है। अतः दोनों पुरोडाशों के मध्य में उपांशुयाज का यजन करे। आलस्य दूर करने के लिए विष्णु का उपांशु-यजन करे; आलस्य-निवारण के लिए प्रजापति का उपांशु यजन करे; आलस्य दूर करने को अग्नीषोम का उपांशु यजन करे।

इन वाक्यों के बिषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—जैसे विद्वद्वाक्य में 'पौर्णमासी' पद 'आग्नेय' आदि याग-समुदाय का अनुवादक है, ऐसे ही 'जामि वा' इत्यादि वाक्य में पठित उपांशुयाज क्या विष्णु आदि गुणवाले तीन प्रकृत यागों के समुदाय का अनुवादक है? अथवा अपूर्व याग का विधायक है? पाठ की समानता के आधार पर विद्वद्वाक्य के 'पौर्णमासी' पद के तुल्य उपांशुयाज को विष्णु आदि यागों का अनुवादक मानना उपयुक्त होगा। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥६॥

[पौर्णमासीवत्] 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' वाक्य में जैसे 'पौर्णमासी' पद 'आग्नेय' आदि यागों के समुदाय का अनुवादक है, ऐसे ही [उपांशुयाजः] 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य-पठित उपांशुयाज 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' आदि वाक्यों से विहित विष्णु आदि यागों का अनुवादक [स्यात्] होना चाहिए ।

जैसे 'य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्यों में द्रव्य, देवता आदि याग के रूप का निर्देश न होने से वह 'आग्नेय' आदि याग-समुदाय का अनुवादक है, इसी प्रकार 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में याग के रूप द्रव्य-देवता का निर्देश न होने से यह अपूर्व कर्म का विधायक नहीं माना जा सकता । 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादि वाक्यों में याग के रूप देवता आदि के निर्देश तथा 'यष्टव्यः' इस विधि-निर्देश से विष्णु आदि यागों का अपूर्व कर्म मानना उपयुक्त होगा । उपांशुयाज को उन्हीं यागों का अनुवादक मानना चाहिए ॥६॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद पूर्वोक्त पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, अर्थात् 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्यगत 'उपांशुयाज' को विष्णु आदि देवतावाले कर्म-समुदाय का अनुवादक नहीं माना जा सकता; प्रत्युत [चोदना] अपूर्व कर्म का विधायक है । विष्णु आदि देवतावाले यागों के—[अप्रकृतत्वात्] प्रस्तुत प्रकरण में न होने से । तात्पर्य है, विष्णु आदि देवतावाले यागों का यहाँ कोई विधायक वाक्य नहीं है; जब उनका विधान ही नहीं, तो उपांशुयाज उनका अनुवादक कैसे होगा ?

विष्णु आदि गुणवाले याग, प्रकरणगत विधि नहीं हैं; प्रत्युत अर्थवाद है, क्योंकि इनके विषय में 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' यह विधि कही गई है । यह लम्बा वाक्य 'जामि वा एतत्' से प्रारम्भ होकर अन्तिम 'अजामित्वाय' पर पूरा होता है । उसमें 'उपांशु यजति' यह विधिवाक्य है । यदि 'विष्णुरुपांशु' आदि को भी विधिवाक्य माना जाय, तो यह वाक्यभेद-दोष उपस्थित हो जायगा । 'विष्णुरुपांशु' आदि वाक्य उस लम्बे वाक्य के मध्य पठित होने पर 'उपांशुयाज-मन्तरा यजति' इस वाक्य के 'उपांशु' पद से सम्बद्ध है, अर्थात् उसी के सम्बन्ध की बात कहते हैं, कोई नई बात नहीं; इसलिए उस विधि के ये अर्थवाद हैं । इनको अपूर्व विधि मानने पर वाक्यभेद-दोष हटाया नहीं जा सकता ।

'विष्णुरुपांशु' इत्यादि वाक्यों के अर्थवाद होने का तात्पर्य यही है कि आग्नेय एवं अग्निषोमीय याग निरन्तर किये जाते हैं—आग्नेय पहले और अग्नीषोमीय उसके अनन्तर । इनमें समय का व्यवधान नहीं किया जाता । दोनों यागों में मन्त्रों

का उच्चारण ऊँचे स्वर से किया जाता है। इससे प्रथम यागानुष्ठान में उच्चार-
यिता ऋत्विक् के थक जाने की सम्भावना बनी रहती है। थक जाने से दूसरे
अग्नीषोमीय यागानुष्ठान के अवसर पर मन्त्रों के उच्चारण में विकृति आ जाने
पर अनुष्ठान दूषित हो सकता है। इन यागों के तिरन्तर अनुष्ठान के अवसर पर
धकावट से मन्त्रोच्चारण में आलस्य भी न हो, और अनुष्ठानों का नैरन्तर्य भी
बना रहे, इस कारण दोनों के अन्तराल में उपांशुयजन कर लिया जाता है। इससे
इनमें जागिता—आलस्य आने की सम्भावना नहीं रहती है। यागानुष्ठान के
अवसर पर आलस्य की स्थिति को दोषपूर्ण माना जाता है। इस दोष के निवारण
के लिए उन यागों के अन्तराल में विष्णु आदि का उपांशुयजन कहा गया है।
ये अपूर्व विधि नहीं हैं ॥१०॥

प्रसंगवश शिष्य जिज्ञासा करता है—यह उपांशुयजन क्या है? आचार्य ने
समाधान किया—

गुणोपबन्धात् ॥११॥

[गुणोपबन्धात्] उपांशु गुण के उपबन्ध=निर्देश से जाना जाता है—
उपांशुयजन यह याग का नाम है।

'उपांशु' पद का अर्थ है—होठों के अन्दर ही उच्चारण करना। उपांशु-
उच्चारण होठों के बाहर सुनाई नहीं देना चाहिए। उपांशुयाज नामक याग का
कथन 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इस वाक्य द्वारा किया गया है। सूत्रकार ने
उपांशुयाजस्य पौर्णमासीकर्त्तव्यताऽधिकरणम्—[१०।८।१७] नामक अधि-
करण में इसका उपादान किया है। यह याग केवल पूर्णमासी के दिन किया जाता
है, अमावास्या' को नहीं।

उपांशुयाज नामक याग में आहुतियाँ तीन देवताओं के उद्देश्य से दी जाती
हैं—विष्णु, प्रजापति, अग्नीषोम। अग्नीषोम और प्रजापति की उपांशुधर्मता का
उल्लेख वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है।^१ विष्णु की उपांशुता का उस रूप में
उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु मन्त्र में समानान (कथन) से विष्णु का समावेश
देवताओं की इस सूची में किया जाता है। आचार्य सूत्रकार ने [१०।८।१२-१३]
सूत्रों में विष्णु देवता विषयक विवेचन किया है। अमावास्या का निर्देश करके वहाँ

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, १०।८।१३।

२. 'तावन्नूतामग्नीषोमावाज्यस्थैथ नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इति, गत सूत्र
के शाबरभाष्य के अन्त में निदिष्ट। 'अनिरक्तो वै प्रजापतिः' [ऐ०
ब्रा० ६।३०; तै० ब्रा० १।३।८; शं० ब्रा० १।१।१।१२; तां० ब्रा०
१।८।८।]

शाबर भाष्य में हौत्र कर्म पढ़ा है—‘इदं विष्णुविचक्रमे’ [ऋ० १।२।२।१७]; ‘प्र नद् विष्णुः स्ववते वीर्येण’ [ऋ० १।१५।४।२] । सूत्रानुगत भाष्य का यह पाठ तभी संगत व सार्थक हो सकता है, जब उपांशुयाज विष्णु देवतावाला स्वीकार किया जाय। यहाँ मन्त्रगत विष्णु के आम्नान-कथन से उपांशुयाजवाले देवताओं में विष्णु की गणना होती है। इस प्रकार आचार्यों ने यह व्यवस्था की है कि आहुति प्रदान करते समय सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण उपांशु किया जाय, अथवा देवता नाम-पद का ? निर्णय किया है, प्रधान होने से केवल देवता के नामपद का उच्चारण उपांशु होना चाहिए; मन्त्र के शेष भाग का उच्चारण उच्च स्वर से किया जाय। इस सब विवरण का सारभूत कथन आपस्तम्ब श्रौत सूत्र [२।१८।२३-२४] में इस प्रकार है—‘उपांशुयाजः पौर्णमास्यामेव भवति वंष्णवोऽग्नीषोमीयः प्राजापत्यो वा’—उपांशुयाज पौर्णमासी तिथि में ही होता है, चाहे वह विष्णु देवता के उद्देश्य से किया जाय, चाहे वह अग्नीषोम या प्रजापति के उद्देश्य से। उक्त श्रौत-सूत्र में आगे कहा—‘प्रधानमेवोपांशु’—प्रधान अर्थात् केवल देवता नाम का उपांशु उच्चारण होता है।

फलतः ‘उपांशु’ गुण-सम्बन्ध से उपांशुयाज अपने रूप में स्वतन्त्र याग का नाम है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों के नैरन्तर्य को अबाधित रखने और थकावट से बचने-रूप निमित्त से उनके अन्तराल में इसका उपयोग किया गया है; अतः यहाँ यह उनका अर्थवाद है; इसमें कोई दोष नहीं ॥११॥

उपांशुयाज अपने रूप में स्वतन्त्र अथवा प्रधान कर्म है, इसकी पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

प्राये वचनाच्च ॥१२॥

[प्राये] प्रधान की पंक्ति में [वचनात्] कथन होने से [च] भी यह एक प्रधान कर्म है।

प्रधान कर्मों के प्रकरण में उपांशुयाज का पाठ होने से इसके प्रधान कर्म होने की पुष्टि होती है। लोक में भी यह व्यवहार देखा जाता है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों के नाम-ग्रहण में जो गिने जाते हैं, वे सभी श्रेष्ठ व प्रधान व्यक्ति माने जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी ‘आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति’ यहाँ से लगाकर ‘ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्’ तक का समस्त प्रक्रम—सिजसिला प्रधान कर्मों का है। उसी के अन्तर्गत ‘तावब्रूताम्—अग्नीषोमावाज्यस्यैव तावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्’ यह वचन है। अतः यहाँ पठित उपांशुयाज प्रधान कर्म माना जाना चाहिए।

अन्यत्र पाठ है—‘तस्य वा एतस्याग्नेय एव सिरः हृदयमुपांशुयाजः पादा-वग्नीषोमीयः’—उस प्रक्रान्त पौर्णमास याग का सिर आग्नेय याग है, हृदय उपांशु-

याज तथा पैर अग्नीषोमीय है। यहाँ प्रधानभूत कर्म आग्नेय तथा अग्नीषोमीय के मध्य में पठित उपाशुयाज प्रधान कर्म है, यह निश्चित होता है। फलतः 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में उपांशुयाज कर्म आगे पठित 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादि वाक्यगत देवसमुदाय का अनुवादक नहीं है। परन्तु मुख्य विधि होने पर भी यहाँ उसका प्रयोग आग्नेय और अग्नीषोमीय के नैरन्तर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा श्रमजनित दोष के निवारण के लिए हुआ है ॥१२॥ (इत्युपांशु-याजापूर्वताऽधिकरणम्—४) ।

(आधाराद्यपूर्वताऽधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक वाङ्मय में 'आधारमाधारयति' [तै० सं० २।१।११] यह वाक्य सुना जाता है। आधार का आधारण करता है, अर्थात् घृत का अग्नि में सेचन करता है। इसके विषय में अन्य वाक्य हैं—'ऊर्ध्वमाधारयति' ऊर्ध्व—ऊँचे से आधारण करता है। 'सन्ततमाधारयति' सन्तत—एकतार, घृत की धारा टूटे बिना आधारण करता है। 'ऋजुमाधारयति' घृत की धारा ऋजु—सरल-सीधी रहते आधारण करता है। पहले वाक्य में घृत के सेचन का विधान है; अगले वाक्यों में बताया गया—घृत का वह आधारण—सेचन किस प्रकार होना चाहिए।

ऐसा ही वाक्य है—'अग्निहोत्रं जुहोति' [तै० सं० १।५।१६] अग्निहोत्र होम करता है। इसी के विषय में अन्य वाक्य कहे गये—'दध्ना' जुहोति' दही से होम करता है। 'पयसा जुहोति'^३ दूध से होम करता है।

ये सब वाक्य दो वर्गों में विभक्त हैं। पहला वर्ग 'आधार'-विषयक है; दूसरा 'अग्निहोत्र'-विषयक। यहाँ सन्देह होता है, प्रत्येक वर्ग के पहले वाक्य (= 'आधारमाधारयति' तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति') अपने वर्ग के अगले वाक्यों के अनुवादक हैं, अथवा अपूर्व विधि हैं? इन्हें अनुवादक मानना उपयुक्त होगा; क्योंकि अगले वाक्यों से आधार और अग्निहोत्र का जो विशेष प्रकार बताया है, ये पहले वाक्य उसी का सामान्य रूप से कथन करते हैं। शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों से विस्तार के साथ सूत्रित किया, जिनमें पहला सूत्र है—

१. सन्तुलन करें, 'दध्ना इन्द्रियकामस्य' तै० ब्रा० २।१।५॥

२. द्रष्टव्य—'यत् पयसाग्निहोत्रं जुहोति अमुमेव तदादित्यं जुहोति' कपिष्ठल कठ संहिता, क ४, २॥ (ब्राह्मणोद्धार कोष के अनुसार)। 'पयसा जुहुवात् पशुकामस्य' तै० ब्रा० २।१।५॥

आधाराम्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥

[आधाराम्निहोत्रम्] आधार-वाक्य और अग्निहोत्र-वाक्य अपूर्वविधि नहीं, अनुवादक हैं, [अरूपत्वात्] अपूर्वविधि-रूप न होने से।

अपूर्वविधि में द्रव्य-देवता आदि का कथन होता है; यहाँ ऐसा नहीं है। जहाँ वाक्य द्रव्य, देवता व इतिकर्तव्यता आदि से युक्त होता है, वह अपूर्वविधि माना जाता है। यह उसका स्वरूप व विशेष गुण है। अतः पूर्वोक्त प्रत्येक वर्ग का पहला वाक्य अपने वर्ग के अगले वाक्यों द्वारा विहित प्रकृत कर्म का अनुवादक है। उन वाक्यों में इतिकर्तव्यता व द्रव्यगुण का निर्देश है ॥१३॥

अनुवादक होने में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥

[संज्ञोपबन्धात् = संज्ञा-उपबन्धात्] प्रत्येक वर्ग के प्रथम वाक्य (आधार-माधारयति, अग्निहोत्रं जुहोति) में आधार और अग्निहोत्र संज्ञा का उपबन्ध— निर्देश होने से संज्ञाविशिष्ट आधार और अग्निहोत्र 'आधारमाधारयति' तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' उक्त दोनों वाक्य कर्म के केवल नाम का निर्देश करते हैं, स्वरूप का नहीं। पहले से विद्यमान वस्तु का नाम रक्खा जाता है। तात्पर्य है, केवल नाम का निर्देश करनेवाले ये वाक्य यह स्पष्ट करते हैं कि ये कर्म स्वरूपतः वाक्यान्तर से सिद्ध हैं; उन्हीं वाक्यों के ये वाक्य अनुवादक हैं। अतः नाममात्र का निर्देश इन वाक्यों के अपूर्वविधि होने में बाधक है ॥१४॥

सूत्रकार ने इन वाक्यों के अनुवादक होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

[अप्रकृतत्वात्] उक्त वाक्यों में द्रव्य देवता के प्रकृत न होने से [च] भी ये वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं हैं।

समीप में स्थित किसी अन्य वाक्य से इन (आधारमाधारयति, अग्निहोत्रं जुहोति) वाक्यों में द्रव्य, देवता की प्राप्ति नहीं होती। अपूर्वविधि के लिए द्रव्य, देवता का निर्देश आवश्यक है। यहाँ ऐसा न होने से इन्हें अपूर्वविधि नहीं माना जाना चाहिए ॥१५॥

गत त्रिसूत्री से प्रस्तुत की गई जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान

१. तेरहवें और पन्द्रहवें सूत्रों में दिये गये हेतुओं में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। एक ही हेतु को दो प्रकार से प्रस्तुत कर दिया गया है। अपूर्वविधि के लिए द्रव्य, देवता की अपेक्षा होना दोनों हेतुओं में समान है।

किया—

**चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन
पुनः श्रुतिः ॥१६॥**

सूत्र में 'वा' पद उक्त जिज्ञासारूप पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'आधारमाधारयति, अग्निहोत्रं जुहोति' ये वाक्य अनुवादक नहीं हैं, प्रत्युत [चोदना] अपूर्व कर्म के विधायक वाक्य हैं, [शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्] उक्त वाक्यों के शब्दार्थ के प्रयोगभूत होने से; अर्थात् 'आधार कर्म करे' तथा 'अग्निहोत्र कर्म करे' इस प्रकार विधायक अर्थवाला होने से। अतएव [तत्सन्निधेः] उन् चोदना- (विधि)-वाक्यों के सामीप्य से (ऊर्ध्वमाधारयति, दध्ना जुहोति, आदि वाक्यों में) [गुणार्थेन] ऊर्ध्व एवं दधि आदि गुणविधान के प्रयोजन से [पुनः श्रुतिः] (आधारयति, जुहोति का) पुनः श्रवण होता है।

'आधारमाधारयति' तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' ये वाक्य अनुवादक न होकर अपूर्व कर्म के विधायक हैं। 'आधारयति' और 'जुहोति' इन आख्यात-पदों में लकार का अर्थ विधि तथा घातु का अर्थ आधारण और होम है, इस प्रकार इन वाक्यों से आधार-संज्ञक एवं अग्निहोत्र-संज्ञक अपूर्व कर्मों का विधान किया गया है। ये वाक्य केवल कर्म के नाम (संज्ञामात्र) का निर्देश न कर आधार एवं अग्निहोत्र कर्मान्तर के विधायक हैं। 'ऊर्ध्वमाधारयति' इत्यादि वाक्य आधार-कर्म के आधारण के साथ ऊर्ध्व, ऋजु और सन्तत गुणों के सम्बन्ध का विधान करते हैं, अर्थात् आधारण की इतिकर्तव्यता के विधायक हैं कि आधारण किस प्रकार किया जाना चाहिए। ये वाक्य आधार-कर्म का विधान नहीं करते; प्रत्युत 'आधारमाधारयति' वाक्य में विहित आधार-कर्मान्तरगत आधारण की केवल इतिकर्तव्यता का निर्देश करते हैं। इन पदों में कर्म का निर्देश ही नहीं है।

इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' वाक्य केवल अग्निहोत्र-कर्मान्तरगत होमक्रिया के साथ द्रव्य के सम्बन्ध का विधान करते हैं, अग्निहोत्र कर्म का नहीं। यहाँ अग्निहोत्र कर्म का निर्देश ही नहीं। वह अपूर्व कर्म 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से विदित है। ये वाक्य केवल द्रव्यान्तर के विधायक हैं।

यह आक्षेप उचित नहीं है कि 'आधारमाधारयति' वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ द्रव्य, देवता निर्देश नहीं है, जो अपूर्व-विधि के लिए—उसका स्वरूप होने से—आवश्यक माना जाता है। भाष्यकार शबर

१. 'आधारयति, जुहोति' लिङ्ग में लेट् लकार का प्रयोग है।

स्वामी ने लिखा है—‘चतुर्गृहीत’ वा एतदभूत् तस्याधारमाधार्यं इति आज्यमस्य द्रव्यम् । निश्चित ही यह (एतत्) चार से गृहीत होता है । ‘एतत्’ सर्वनाम पद ‘आज्य’ के लिए प्रयुक्त हुआ है । उस आज्य का आधार याग में आधारण करके; इसके अनुसार आधार याग का द्रव्य-आज्य है । देवता का विधान मन्त्रवर्ण से जाना जाता है । मन्त्र है—‘इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहा’ इति आधारमाधारयति । ‘इन्द्र ऊर्ध्वोः’ ‘इन्द्रवान् स्वाहा’ इस मन्त्र से आधार का आधारण करता है । मन्त्रार्थ है—हे इन्द्र ! ऊर्ध्व अध्वर द्युलोक का स्पर्श करे; हे यज्ञपते ! तुभ महान् का इन्द्रवान् यज्ञ सुहृत होवे । इससे स्पष्ट है, आधार-कर्म इन्द्रवान् होता है, इसका देवता इन्द्र है । इस प्रकार द्रव्य और देवता दोनों से सम्पन्न होने के कारण आधार अपूर्व विधि है, अनुवादक नहीं । ‘आधारमाधारयति’ के समान ‘अग्निहोत्रं जुहोति’ भी अपूर्व विधि है, उसका देवता अग्नि और द्रव्य-आज्य दूध-दही आदि स्पष्ट है । फलतः जिज्ञासा-प्रसंग से कहे गये आक्षेप अयुक्त है ॥१६॥ (इत्याधाराद्यपूर्वताऽधिकरणम्—५) ।

(पशुसोमापूर्वताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक वाङ्मय में पढ़ा है—‘यो दीक्षितो यदग्नी-षोमीयं पशुमालभते ।’—कर्मानुष्ठान के लिए दीक्षित व्यक्ति अग्नीषोम देवतावाले पशु का आलमन करता है । उसी प्रसंग में पाठ है—‘हृदयस्याग्नेऽवद्यति, अथ जिह्वाया अथ वक्षसः’ [तै० सं० ६।१।११]—पहले हृदय का अवदान करता है, अनन्तर जिह्वा का, तदनन्तर वक्ष का ।

इसी प्रकार अन्य वाक्य है—‘सोमेन यजेत’ सोम से याग करे । वहाँ आगे पाठ है—‘ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मिश्रवरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति’—इन्द्र-वायु देवतावाले का ग्रहण करता है, मिश्र-वरुण देवतावाले का ग्रहण करता है, अश्वी देवतावाले का ग्रहण करता है ।

इन प्रसंगों में सन्देह है, क्या ‘अग्नीषोमीयं पशुमालभते’ तथा ‘सोमेन यजेत’ वाक्य अपूर्व कर्म का विधान करते हैं ? अथवा अपने प्रसंग में पठित ‘हृदय-स्याग्नेऽवद्यति’ आदि, तथा ‘ऐन्द्रवायवं गृह्णाति’ आदि वाक्यसमुदाय के अनुवादक हैं ?

१. ‘चतुर्गृहीत’ का शब्दार्थ है—चार से गृहीत । यह आज्य का विशेषण है । जब आज्यस्थाली से आज्य को स्रुक से भरकर स्रुवा में डाला जाता है, तब स्रुक और स्रुवा को पकड़ने में कनिष्ठिका अंगुलि का उपयोग नहीं किया जाता । इसीलिए आज्य चतुर्गृहीत होता है—तीन अंगुलि, चौथा अंगूठा ।

ऐसा प्रतीत होता है, ये समुदाय के अनुवादक हैं, कर्मान्तर के विधायक नहीं। कारण है—समुदाय-वाक्यों में 'अवच्छति' और 'गृह्णाति' पदों में—अवदान करने तथा ग्रहण करने-रूप क्रियानुष्ठान के निर्देश द्वारा कर्म का विधान कर दिया गया है। ये वाक्य ('अग्नीषो०—लभते' तथा 'सोमेन यजेत') तो अवदान और ग्रहण से यथाक्रम पशु और सोम के सम्बन्धमात्र का निर्देश करते हैं, अतः ये उस वाक्य-समुदाय के अनुवादक हो सकते हैं। क्या यह युक्त है? आचार्य ने समाधान किया, यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि—

**द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको
द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥**

[पशुसोमयोः] पशु और सोम से सम्बद्ध—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' तथा 'सोमेन यजेत' वाक्यों में [द्रव्यसंयोगात्] पशु और सोम द्रव्य का संयोग होने से, ये वाक्य [चोदना] अपूर्व कर्म के विधायक हैं। [प्रकरणे] प्रकरण में पठित 'हृदयस्याग्नेज्वच्छति' आदि तथा 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों से याग का विधान माना जाता है, तो [द्रव्यसंयोगः] 'पशुमालभेत' वाक्य में तथा 'सोमेन यजेत' वाक्य में पशु और सोम द्रव्य का संयोग [हि] निश्चय से [अनर्थकः] निष्प्रयोजन हो जायगा। [तस्य] उक्त वाक्यों में पशु और सोम द्रव्य का [गुणार्थेन] गत अधिकरण में वर्णित 'दध्ना जुहोति' के समान—गुणविधान के प्रयोजन से निर्देश [हि] कदापि [न] नहीं है।

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं; प्रकृत में पठित 'हृदयस्याग्नेज्वच्छति' एवं 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' वाक्यों से अग्नीषोमीय पशुयाग एवं सोमयाग का बोध अथवा विधान नहीं होता; क्योंकि न तो हृदयादि अङ्ग पशु है, और न ऐन्द्रवायव सोमरस सोम है। 'पशुमालभेत' वाक्य में पशु पद से एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम पद से यथाक्रम सींग, पूँछ, चार पंर वाले आकृतिविशेषमूलक द्रव्य का बोध होता है, समस्त लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय निर्देश इसके प्रमाण हैं। प्रकृत में पठित पशु-अवयवों—हृदय-जिह्वा-वक्ष आदि का पशु-पद उच्चारण से बोध नहीं होता, तब ये पद पशुयाग के विधायक नहीं माने जा सकते। अतः 'पशुमालभेत' वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक मानना न्याय्य है।

इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम-पद मूल रूप से आकृतिविशेष के आधार पर सोमलता का वाचक है। उसके टहनी-पत्तों की विशेष आकृति, ऋतु-विशेष में उसका परलवित होना आदि सोम-पद के उच्चारण से अभिव्यञ्जित होते हैं। अग्निधाशक्ति-बोध्य अर्थ सोम-पद का यही है। यदि कहीं सोम-पद का सोम-रस अर्थ अभिलक्षित होता है, तो वह औपचारिक अथवा गौण ही समझना

चाहिए। प्रकृत में पठित 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में 'ऐन्द्रवायव' आदि पद सोम-रस को अभिलक्षित करते हैं, सोमलता के वाचक नहीं हैं। अतः उनकी सोमयाग का विधायक नहीं माना जा सकता। फलतः 'पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं, प्रकृत में पठित वाक्यों के अनुवादक नहीं।

प्रकृत-पठित वाक्यों में द्रव्य का जो निर्देश है, वह उनके यज्ञोपयोगी संस्कार-विशेष का बोध कराता है। इस प्रकार उक्त विधिवाक्यों के ये केवल अङ्गभूत हैं। संस्कार का बोध कराने तक ही उनका क्षेत्र है। कर्मान्तर की विधायकता की क्षमता उनमें नहीं है। इसलिए केवल द्रव्य के संस्कारबोधक वाक्यों को विधायक कहना और विधिवाक्यों को गुण का विधान करनेवाले कहकर गौण मानना वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'पशुमालभेत' तथा 'सोमेन यजेत' वाक्य अनुवादक नहीं हैं, यह ठीक है, परन्तु प्रकृत-पठित 'हृदयस्याग्ने' तथा 'ऐन्द्रवायव' आदि वाक्यों में भी द्रव्य का निर्देश होने से उन्हें भी विधिवाक्य क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥

[च] और [संस्काराः] प्रकृत-पठित वाक्यों में निर्दिष्ट अवदान तथा ग्रहण-रूप संस्कार [अचोदकाः] यागकर्मों के विधायक नहीं हैं।

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में ग्रहण तथा 'हृदयस्याग्नेऽवधति' आदि में अवदानरूप संस्कार अपूर्व यागों के विधायक नहीं हैं। 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्य इन्द्रवायु आदि देवताओं के लिए संस्कृत द्रव्यदान के संकल्पमात्र का बोध कराते हैं, इतना ही इनका क्षेत्र है। पर देवता के लिए द्रव्यदान का संकल्प याग के बिना सम्पन्न न होगा। तब याग के विधान को देखना होगा; वह विधान 'सोमेन यजेत' वाक्य से किया गया है। इसलिए प्रकृत में पठित ये वाक्य किसी यागकर्म के विधायक नहीं हैं। विधिवाक्य से बोधित यागकर्म के अनुष्ठान में अपेक्षित द्रव्य के संस्कारमात्र का निर्देश करते हैं। संस्कृत द्रव्य का देवता-विशेष से सम्पर्क का निर्देश अदृष्टार्थक सम्भव है।

इसी प्रकार 'पशुमालभेत' के प्रकरण में पठित 'हृदयस्याग्नेऽवधति' आदि

१. पशुयाग में पशु का 'आलभन' और हृदय आदि अङ्गों का 'अवदान' क्या है ? इस विषय में पर्याप्त प्राचीन काल से इस याग की मूल भावनाओं को भुलाकर अनेक भ्रान्त धारणाएँ चली आ रही हैं, जिनके कारण इस लम्बे अन्तराल-काल में अनेक साम्प्रदायिक, बौद्धिक, व दैहिक संघर्ष चलते रहे हैं। आज भी जहाँ-तहाँ उन यागों के विकृत रूप एवं उनसे उमरे छुट-पुट संघर्ष

वाक्यों द्वारा पशुयाम में अपेक्षित हृदय, जिह्वा, वक्ष एवं इनसे उपलक्षित अन्य

दृष्टिगोचर होते रहते हैं। यज्ञविषयक उन भ्रान्त धारणाओं के कारण आर्यों के प्राचीन भारतीय समाज से विच्छिन्न होकर बौद्ध सम्प्रदाय प्रादुर्भाव में आया। इस संघर्ष का उस समय में अवसादपूर्ण अन्त बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायियों को अपने देश बलात् छोड़ देने के रूप में परिणत हुआ। उन भ्रान्त धारणाओं का रूप—यागों में पशुहिंसा का करना—रहा है। यद्यपि इन धारणाओं के लम्बे समस्त अन्तराल-काल में अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा लेख व मौखिक रूप में बराबर चलती रहीं, पर एक समय इन धारणाओं का इतना प्राबल्य बढ़ा कि वैदिक वाङ्मय का बहुत बड़ा भाग उन धारणाओं की पुष्टि के रूप में भर दिया गया जिसके फलस्वरूप समाज के बहुत बड़े भाग को अपना देश तक छोड़ना पड़ा। उस काल में भी भर्तृमित्र जैसे महान् मीमांसक हुए, जिन्होंने मीमांसाशास्त्र से इसे निकालने का अथक प्रयास किया; पर समाज का पतनाला उसी जगह रहा। कुमारिल भट्ट और आद्य आचार्य शंकर जैसे महान् व्यक्ति भी अपने-आपको उस क्लृप्त से बचाकर न रख सके।

आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द ने उन धारणाओं के विरुद्ध कठोर कदम उठाया। उन यागों की वास्तविक मूल भावनाओं को उभारकर ऐसे सुझाव सामने रखे, जिनसे उन भ्रान्त धारणाओं की असत्यता एवं निराधारता का मार्ग प्रशस्त होता है। ऋषि का अपने जीवन में कार्यकाल बहुत थोड़ा रहा, केवल दश वर्ष के लगभग। कार्य-तरु की शाखाएँ अनेक रहीं। किसे कितना समर्थन मिल सका, इसका लेखा-जोखा उनकी रचनायें प्रस्तुत करती हैं। उनपर आगे कार्य करना—ऋषि के अनन्तर होनेवाले—बुद्धि-जीवियों का लक्ष्य होना चाहिए। छूट-पुट कार्य अनेक विद्वानों ने किया है, पर जिसकी ऊँचे स्तर पर गणना की जाय, ऐसा कार्य मेरी दृष्टि में केवल पं० युधिष्ठिर मीमांसक का आया है। यदि अन्य किसी विद्वान् ने उस स्तर का कार्य किया हो, तो उसे अभी देख नहीं पाया। इस विषय में उनकी रचनायें द्रष्टव्य हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. धीत यज्ञ मीमांसा

२. जैमिनीय मीमांसा सूत्रों के शाबर भाष्य का हिन्दी रूपान्तर;
तथा विशेष रूप से उसके अन्तर्गत लिखे गये विवरण।

इस विषय में उनके विचारों को पाठक उनकी रचनाओं को गम्भीरतापूर्वक पढ़कर जानने का प्रयास करेंगे। इस विषय में मेरी जो कुछ धारणा बनी, अति संक्षेप में उनको प्रस्तुत करना चाहूँगा।

अङ्गों को शुद्ध-सुन्दर-स्वच्छ बनाने रूप अवदान-संस्कार का निर्देश हुआ है। इन

प्रारम्भिक भारतीय समाज—

भारत के प्राचीनतम साहित्य से ज्ञात होता है, अपने आदिकाल से ही भारत देश कृषिप्रधान रहा है। आज भी स्थिति इससे अधिक विपरीत नहीं है। आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे अन्य अनेक संस्थाओं की स्थापना होती रही। मुख्य रूप से निम्न संस्थाएँ अतिप्राचीन काल से प्रचलित हैं—शिक्षा, रक्षा, व्यापार (स्थानीय तथा देशान्तर तक); स्थलीय व्यापार के अतिरिक्त नौकाओं द्वारा सागरीय व्यापार के उल्लेख भी प्राचीनतम वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं), विविध प्रकार के शिल्प, जिनमें गृहनिर्माण, लकड़ी तथा विभिन्न धातुओं (सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा आदि) के आधार पर आभूषण, पात्र तथा रक्षा, कृषि एवं अन्य कार्यों में अपेक्षित औजार आदि का निर्माण।

आधुनिक पुरातत्त्वानुसन्धाता उछल-उछलकर पुरजोश यह घोषणा करते हैं कि प्राचीन भारत में लोह अथवा अयस् धातु का अस्तित्व न था। पुराने स्थानों के खनन में अब से लगभग साढ़े तीन-चार हजार वर्ष तक के काल में लोहा मिलता है, इससे पहले का नहीं।

इस विषय पर जब पहले-पहल अनुसन्धाताओं ने प्रकाश डाला, तब कहा गया, अब से लगभग दो-दोई हजार वर्ष से पहले समय में लोहा भारत में नहीं मिलता। पर धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों के अनेक खनन-कार्यों के अनन्तर वह समय प्राचीनता की ओर बढ़ता-बढ़ता चार हजार वर्ष पूर्व समय के दामन में जा लगा है। यह क्रम बताता है, सम्भवतः भविष्यत् की खुदाइयों के बाद यह समय अन्य अनेक सहस्रों वर्ष पहले तक जा सकता है।

यह भी विचारणीय है, खनन में सोना, चाँदी आदि के प्रायः मिलने और लोहे के न मिलने का बुद्धिसंगत कुछ कारण है। खनन वहाँ होता है, जहाँ पुरानी आबादियाँ नष्ट हो गईं। नष्ट होने के अनेक कारण होते हैं—दैवी प्रकोप—भूकम्प, भयंकर बाढ़, संक्रामक भयावह रोग का प्रकोप आदि; मानवीय प्रकोप—शत्रु का अचानक आक्रमण, डाकू-लुटेरों का आए-दिन हल्ला आदि। इनमें कतिपय कारण ऐसे हैं, जिनसे आतंकित व्यक्ति जान बचाकर एकदम भागता है, सामान उठाकर ले-जाने की ओर ध्यान नहीं देता; अथवा जान व सामान के साथ वहीं समाप्त हो जाता है। ऐसे नष्ट हुए स्थानों के खनन में थोड़ी-बहुत सब प्रकार की धातु मिल जाने की सम्भावना रहती है।

स्वभावतः मानव मूल्यवान् धातुओं को रक्षा की दृष्टि से भूमि में गाड़ देता है। पर लोहे का सामान न मूल्यवान् है, तथा दैनिक कार्यों में निरन्तर

वाक्यों का क्षेत्र पशु-अङ्गों के अवदानरूप संस्कारमात्र का बोध कराना है; ये

उपयोग में लाया जाता है। आतंक के अवसर पर व्यक्ति गड़े सामान को खोदने में समय नष्ट नहीं करना चाहता; ऊपर के दैनिक उपयोगी सामान को लेकर तत्काल स्थान छोड़ने का प्रयास करता है। ऐसे अवसर पर गड़ी चीज को छोड़ने का कभी-कभी यह भी कारण होता है कि व्यक्ति उसे जान-बूझकर छोड़ जाता है—इस भय से, कि दूसरे सुरक्षित स्थान पर पहुँचने से पहले ही मार्ग में लुट न जाय। वह सोचता है, मयरहित अवसर आने पर उस वस्तु को उखाड़कर सुरक्षित रूप में ले-जाया जा सकेगा। ऐसा अवसर कभी मिलता है, कभी नहीं। जब नहीं मिलता, तो गड़ी हुई कीमती धातु वहाँ रह जाती है, जो खनन करने पर आकस्मिक रूप से अनुसन्धाताओं के हाथ लगती है। ऐसे स्थानों पर लोहा मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

इन परिस्थितियों के अतिरिक्त यह विशेष ध्यान देने योग्य है—आदिकाल से ही भारत कृषिप्रधान देश है। कदाचित् आधुनिक पुरातत्वानुसन्धाता उस समय में अन्य संस्थाओं की विद्यमानता को न माने, पर कृषि की विद्यमानता से नकार नहीं कर सकेगा। कृषि से परिचय व सम्पर्क रखने-वाला व्यक्ति यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि कृषि-कार्य लोहे के उपयोग-बिना हो सकता है। कृषि में लोहे का सहयोग अवश्यम्भावी है। लोहे के साथ असहयोग करके कृषि का किया जाना असम्भव है। कृषि और लोहे का चोली-दामन का सम्बन्ध है। कदाचित् आधुनिक पुरातत्वानुसन्धाता शुद्ध नागरिक प्राणी है, कृषि-कार्य से सर्वथा अपरिचित; अन्यथा वह ऐसी सम्मति न देता—लोहे को कृषि से अलग न रखता। भूमि का फाड़ना और लकड़ी का काटना-छीलना लोहे के बिना सम्भव नहीं। भारत में जब से कृषि है, उस समय से लोहा है।

निवेदन है, ऐसे अनुसन्धाता जब भारत में लोहे की विद्यमानता के लिए अपनी सम्मति प्रकट करें, तो उन्हें इन परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए। इससे उनके कथन को सच्चा आधार और बल मिलेगा, तथा वास्तविकता खुले रूप में सामने आएगी।

प्रसंग है—वैदिक बाङ्गमय व मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित पशुयाग। इस विषय में अपने विचार प्रकट करना अभीष्ट है। मध्यकालिक साहित्य इस विषय का जिस रूप में उल्लेख करता है, उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि पशु के अंगों को काटकर उनकी कुछ अत्यल्प आहुतियाँ होमाग्नि में और शेष समस्त जठराग्नि में दी जाती रही हैं। गत पंक्तियों में यह स्पष्ट किया

यागकर्म के विधायक वाक्य नहीं हैं। पर यागकर्म के बिना संस्कार की सार्थकता

गया कि भारत देश आदिकाल से कृषिप्रधान रहा है। भारत में कृषि का मूल आधार गौ है। कहना चाहिए, भारतीय अर्थतन्त्र का मूल आधार गाय है। वह मानव को अमृत-सुल्य दूध देती है, जो सशक्त मानव-जीवन के लिए श्रेष्ठ साधन है। गाय के बछड़े भारत में सदा से कृषि का आधार रहे हैं। इनका मूत्र व गोमय आज विज्ञान के हल्ले में भी खेती की उपज बढ़ाने के लिए सर्वोत्तम खाद माना जाता है। गाय द्वारा प्राप्त दूध और कृषि-उपज सब प्रकार के खाद्य एवं विविध प्रकार के व्यापार व उद्योग की रीढ़ है। समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय-साधनों के दो ही मूल आधार हैं—एक कृषिजन्य उपज, दूसरे खनिज पदार्थ। यहाँ केवल कृषि-सम्बन्धी चर्चा उपादेय है।

जाना गया, कृषि-सम्पादन के लिए आवश्यक व मुख्य साधन गौ हैं। इसको ध्यान में रखते हुए पशुयाग पर विचार कीजिए। याग के विषय में वाक्य हैं—

**अग्नीषोमीयं पशुमालमेत । हृदयस्याग्नेऽवद्यति,
अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः ।**

अग्नीषोम देवता से सम्बद्ध पशु का आलभन करे। पहले हृदय का अवदान करे, तत्पश्चात् जिह्वा का, उसके अनन्तर वक्षस् का।

सन्दर्भ में दो क्रियापद हैं—‘आलभेत’ और ‘अवद्यति’। अर्थ है—आलभन करना और अवदान करना। यहाँ ‘आलभन’ और ‘अवदान’ पद विचार्य हैं—इनका तात्पर्य क्या है? यथाक्रम इनका अर्थ—जान से मारना, और काटना = टुकड़े-टुकड़े किया जाना—किया जाता है। परन्तु ‘आलभन’ पद में धात्वर्थ यह नहीं है। ‘प्राप्ति’ अर्थवाले लम् [डुलभ् प्राप्ताौ], धातु से भाव अर्थ में ‘ल्युट्’ प्रत्यय होने पर यह पद सिद्ध होता है। ‘आङ्’ उपसर्ग लगा है। सब मिलकर अर्थ होता है—अच्छी तरह प्राप्त होना, सम्बद्ध होना, स्पर्श करना आदि। धात्वर्थ में ‘मारना’ अर्थ का संकेत भी नहीं है। इस क्रियापद [आलभते] का वैदिक वाङ्मय में प्रयोग ‘स्पर्श करने’ अर्थ में देखा जाता है।

‘अवदान’ पद ‘दैप् शोधने’ (म्वादि०) और ‘दो अवसण्डने’ [दिवा०] धातुओं से पूर्ववत् ल्युट् प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है। पहले का अर्थ है—सुन्दर, स्वच्छ, पवित्र, साफ़-सुथरा आदि। दूसरे का अर्थ है—काटना = टुकड़े-टुकड़े करना। ‘अवद्यति’ क्रियापद ‘दो अवसण्डने’ (दिवा०)

सम्भव नहीं। उस यागकर्म का विधान 'पशुमालभते' वाक्य से किया गया है।

का सम्भव है, 'दैप् शोधने' [म्वा०] का नहीं। न्यादिगणी 'दैप्' धातु का रूप 'अवदायति' होगा, 'अवद्यति' नहीं।

विचारणीय है, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' वाक्य के साथ 'हृदय-स्याग्नेऽवद्यति' आदि वाक्य एकसाथ ग्रन्थ में पठित नहीं हैं। पहला वाक्य तैत्तिरीय संहिता [६।१।११] में पठित है; दूसरा [६।३।१०] में। पहला प्रसंग-वर्षा-सम्बन्धी है। आलंकारिक रूप में वर्णन है—अग्नि और सोम की सहायता से इन्द्र ने वृत्र को मारा। अग्नि और सोम परस्पर मिश्रित हुए वर्षा लानेवाले पुरोवात का प्रतीक है। इन्द्र विद्युत् है, उसने पुरोवात के सहयोग से मेशरूप वृत्र को मारा। वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गया। कृषक-वर्ग में चहल-पहल प्रारम्भ हो गई, यही अवसर अग्नीषोमीय पशु के प्राप्त होने का है। अग्नि और सोम ऋषि के देवता हैं। उनसे सम्बद्ध अग्नीषोमीय पशु बैल है। भूमि वर्षा से आर्द्र हो उठी है। भूमि को तैयार कर उसमें बीज-वपन का समय आ गया है। तब उसके लिए पशु, बैल उपस्थित होता है। यह अग्नीषोमीय पशु का आलभन है, प्राप्त होना है। उसकी गर्दन पर जुआ रक्खा जाता है। यहाँ से दूसरे प्रसंग का वर्णन प्रारम्भ होता है।

बैल की गर्दन पर जब जुआ रक्खा जाता है, तब यह जुए का व्यवधान मानो उसके सिर को घड़ से अलग कर देता है। यही पशु का शिरश्छेदन है। हल में जुते हुए बैल के द्वारा भूमि के फाड़ने में जो परिश्रम (थकान) होता है, उससे बैल की जीभ व हृदय (वक्षस्) प्रतिकूल दिशा में प्रभावित होते हैं। यही जिह्वा और वक्षस् का अवदान है। तब गर्दन से जुआ हटाकर उन्हें थोड़ी चिकनाई दी जाती है, जो उनके प्राण-अपान को पुष्ट करती है। भूमि फाड़ते समय श्रमजन्य कष्टरूप जो राक्षस आ धिरे थे, अब उनका अपघात हो जाता है। तात्पर्य है, उसकी थकावट दूर हो जाती है, और उसे खूटे (यूप) पर बाँधकर उपयुक्त चारा (आहवनीय) दिया जाता है। इस प्रकार के अवदान से देवों ने स्वर्ग प्राप्त किया, अर्थात् ऋषि द्वारा प्रचुर अन्न आदि विविध उपभोग्य सामग्री का उत्पादन कर समाज के लिए सुख-सम्पदाओं को प्राप्त किया। 'अवद्यति' क्रियापद-बोधित अवदान यहाँ उक्त रीति पर औपचारिक रूप से वर्णित है। अमावास्या के दिन इष्टि के अवसर पर उन स्थितियों का स्मरण करते हुए स्थानीय सब पशुओं को—उनके स्वास्थ्य आदि की परीक्षा व जाँच-पड़ताल के लिए एकत्रित किया जाता था।

पशुयाग अमावास्या को किया जाता है। समस्त देश के कृषक अपने-

उस याग के अनुष्ठान में उपयोगी होने से ये वाक्य उसके अङ्ग अथवा शेष हैं ॥१८॥

अपने स्थानों में मास के इस नियत एक दिन कृषि-कार्य में सहयोग देनेवाले पशुओं को न केवल पूर्ण विश्राम ही देते थे, अपितु घर के सब पशुओं (गाय, बैल आदि) को सरोवर या नदी आदि में ले-जाकर स्वच्छ जल से अच्छी तरह स्नान कराते थे, गीले कपड़े आदि से मलकर उनके देह का सब मूल साफ करते थे। इस प्रकार स्नान कराने के अनन्तर उनके सींगों व खुरों आदि पर चिकनाई की मालिश करते थे। उनके शरीर के विभिन्न अंगों—हृदय, बक्खियाँ, माथे आदि पर सिन्दूर अथवा अन्य किसी तरल रूपी से माङ्गलिक चिह्न आदि बनाते थे। अनन्तर स्वयं स्नान कर, स्वच्छ वस्त्र धारण कर, बस्ती के सब कृषक मिलकर बस्ती के मार्गों में पशुओं का जुलूस निकालते थे; जिस घर के सामने से वह जुलूस गुजरता, घर की महिलायें व बच्चे दीप-धूप आदि से संस्कृत-पूजित करते, तथा कुछ खाद्य सामने आए पशु के मुँह में दे दिया जाता। यह उनका पर्यग्निकरण था। इस प्रकार पल्ली की परिक्रमा कर सब अपने-अपने स्थानों में जाकर विश्राम करते।

उसी पशुयाग का आधुनिक रूप समस्त देश में पाया जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि आदिकाल से आज तक समस्त भारत के पूरे कृषि-जीवी समाज में यह परम्परा अटूट रूप में चली आ रही है। अगावस के दिन प्रत्येक कृषिजीवी-वर्ग का व्यक्ति अपने कृषि-उपयोगी पशुओं को पूर्ण विश्राम देता है। उस दिन उनसे किसी प्रकार का कोई काम नहीं लिया जाता; नहलाया-धुलाया जाता है। किन्हीं प्रदेशों में नीराजना का भी प्रचलन है।

कालान्तर में धीरे-धीरे यह व्यावहारिक परम्परा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी धार्मिक रूप धारण कर गई। आज्य एवं शाकल्य आदि से सम्पन्न होने वाले यज्ञ-याग आदि के स्तर तक इसे पहुँचा दिया गया। प्रारम्भ में उस परम्परा को यह रूप देने में समाज के कुछ प्रभावी बुद्धिजीवी, पर दम्भी, स्वार्थी, रसनालोलुप, विषयलम्पट व्यक्तियों का मुख्य हाथ रहा, अनन्तर-काल में इस गड्डलिका-प्रवाह के अन्दर अच्छे उदात्त विचार के व्यक्ति भी बह गए। यज्ञयाग के फलों को अलौकिक रूप दिया गया। एक सच्चा-सीधा लौकिक व्यवहार पशुयाग भी अलौकिक रूप धारण कर गया। इस सम्पर्क से उन पवित्र कर्मों के मञ्च को दूबड़खाना बना दिया गया। पर यह एक शुभ लक्षण है कि उस प्राचीन परम्परा को शुद्ध रूप—भले ही आंशिक रूप में रह गया हो—आज भी कृषिजीवी-वर्ग में विद्यमान है, जो उसके

गत सूत्र में पशुयागविषयक विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस विषय में अन्य

वास्तविक प्राचीन रूप का प्रतीक है।

आज इन मान्यताओं को माननेवाले समाज के सर्वोच्च धार्मिक नेता यह कहने में नितान्त संकोच का अनुभव नहीं करते कि हम पशु को मार कर, अङ्गों को होमाग्नि में आहुत कर उनके कल्याण की भावना से ही ऐसा करते हैं; हमारा इसमें कोई स्वार्थ न होकर यह एक प्रकार का परमार्थ ही है।

ऐसे नेताओं के इन लचर कथनों का सहस्रों वर्ष पहले बृहस्पति और उसके शिष्यों ने अच्छा उत्तर दे दिया था। उस विचारधारा के साहित्य को इन-जैसे लकीर के फकीर नेताओं ने—नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी इधर-उधर बिखरे सन्दर्भ दूरदर्शी व्यक्तियों ने एकत्र किए। उन्हीं में एक सन्दर्भ है—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

ज्योतिष्टोम याग में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को चला जाएगा, तो यजमान-यज्ञकर्ता अपने बाप को मारकर सीधा स्वर्ग क्यों नहीं पहुँचाता ?

वस्तुतः याग जैसे लोकहितकारी पवित्र कार्य को ऐसे व्यक्तियों ने नितान्त निन्दनीय बना डाला है। समस्त उन्नत वैदिक वाङ्मय को इसने दूषित कर डाला है।

इन वास्तविकताओं की छाया में हम विचार के निम्नांकित घरातल पर पहुँचते हैं—अमावास्या के दिन होनेवाली इष्टि का 'दर्श' नाम इसी आधार पर हुआ ज्ञात होता है कि उस दिन समस्त स्थानीय पशुओं को उनके स्वास्थ्य आदि की देख-भाल, उपयुक्त जाँच-पड़ताल के लिए इष्टि-मण्डप के समीप परिसर में एकत्रित किया जाता था। इष्टि के अनुष्ठाता व्यक्ति समाज के मूर्खत्व व गण्य-मान्य होते थे। प्रशासन के साथ उनका सम्पर्क रहता था। स्वयं भी वे अपना कर्तव्य समझते थे कि समाज के सुचारु रूप से निर्बाध सञ्चालन में उनका उपयुक्त योगदान बना रहे। नियतकालिक इष्टि-अनुष्ठान के अवसर को स्थानीय पशुओं के स्वास्थ्य-परीक्षणार्थ इसी कारण उन लोगों ने चुना कि सब श्रेष्ठ अधिकृत व्यक्तियों के साक्ष्य में यह कार्य भी सुगमता से सम्पन्न हो जाय; उसके लिए अन्य अतिरिक्त समय लगाना न पड़े। कृषिप्रधान समाज होने के कारण उसकी

कथन आगे [१०।७।१-२; अधिकरण १ में] किया जाएगा। अब सोमयाग के

उपेक्षा किया जाना भी सम्भव न था।

सुविधा की दृष्टि से सब पशुओं को तीन भागों में बाँटा गया था, जिनके नाम हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य। छह दिन में सम्पन्न होनेवाला ज्योतिष्टोम याग कृष्ण पक्ष की एकादशी से प्रारम्भ होकर शुक्ला प्रतिपदा को पूरा होता था। पहले तीन दिन केवल विविध इष्टियों का अनुष्ठान होकर चौथे दिन कृष्ण चतुर्दशी से पशुओं की स्वास्थ्य-परीक्षा प्रारम्भ होती थी। इष्टि-अनुष्ठान यज्ञमण्डप में चलता रहता था। उसी के समीप परिसर में नियत व्यक्ति पशुओं के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल करते थे। पहले दिन चतुर्दशी को अग्नीषोमीय पशु उपस्थित होते थे। अग्नीषोमीय पशु बैल हैं, जो सीधे कृषिकार्य में उपयुक्त होते हैं। दूसरे दिन अमावास्या को सवनीय पशु उपस्थित होते थे। सवनीय पशु हैं—मेष (मेंढा), मेषी (मेड़), अज (बकरा), अजा (बकरी)। अमावास्या के दिन प्रधान आहुतियाँ सोम की दी जाती हैं, जो प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन अथवा सायं सवन—तीन भागों में सम्पन्न होती हैं। इसी के अनुसार अमावास्या में उपस्थित होनेवाले पशुओं का 'सवनीय' नाम हुआ। इन पशुओं की संख्या पर्याप्त अधिक होने के कारण इनकी परीक्षा भी तीन भागों में बाँटी गई। प्रातः सवन के अवसर पर समस्त स्वस्थ पशुओं को छाँटकर अलग कर दिया जाता था। जिन पशुओं के विषय में रोग का सन्देह रहता, तथा जिनपर रोग का निश्चय रहता, उनको माध्यन्दिन सवन-काल में चारे पर घेर दिया जाता था, जो स्वास्थ्य-परीक्षा में उपयोगी था। ऐसे पशुओं की संख्या बहुत कम रहती थी। तृतीय सवन-काल में उनकी परीक्षा कर चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर दिया जाता था।

ज्योतिष्टोम का अन्तिम (शुक्ल प्रतिपदा) दिन पशुयाग का तीसरा दिन है। इस दिन 'अनुबन्ध्य' पशु उपस्थित किए जाते थे। 'अनुबन्ध्य' पद का अर्थ है—परीक्षित पशुओं के पीछे शेष रहे पशु। इन्हें 'पिछलग्गू' कह सकते हैं। शेष रहे सभी पशुओं का इनमें समावेश हो जाता है—दूध देने, न देने वाली गाएँ, बछड़े-बछियाँ, पठोरे बहड़े-बहुड़ियाँ, घोड़ा-घोड़ी, ऊँट-ऊँटनी, हाथी-हथनी, कुत्ता-कुतिया आदि। परीक्षा के अनन्तर सब पशु अपने-अपने स्थानों पर चले जाते थे। इसी व्यवस्था का नाम 'पर्यगिनकरण' एवं विसर्जन अथवा उत्सर्जन था। यज्ञ के आरम्भकाल में पशुयाग का यह स्वरूप रहा। इससे आलम्भन और अवदान पदों का अर्थ स्पष्ट होता है। पशुओं का स्वास्थ्य-परीक्षार्थ यज्ञीय परिसर में प्राप्त होना—पहुँचना

विषय में बन्तव्य अपेक्षित है ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है कि यदि अनेक विधिवाक्य समान बल रखते हों और सत्रका प्रयोजन एक हो, तो उन विधियों में विकल्प हो जाता है । जैसे—यज्ञिय पशु को बाँधने के लिए यूप [खूँटा] के विषय में उल्लेख है—‘स्नादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाति’—खैर की लकड़ी के बने यूप में बाँधता है, ढाक के यूप से बाँधता है, बहेड़े के यूप में बाँधता है । ये सब विधियाँ समानबल हैं, और इनका एक ही प्रयोजन है—पशु को बाँधना । इसलिए इन विधियों में विकल्प है, इनमें से किसी भी एक लकड़ी का यूप होना चाहिए ।

इसी प्रकार सोमयागीय ग्रहों के विषय में सुना जाता है—‘दशैतान् अध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति’—अध्वर्यु इन दश ग्रहों को प्रातःसवन में ग्रहण करता है । इसके अनुसार यहाँ ग्रहों का समुच्चय देखा जाता है । दश ग्रह हैं—(१) ऐन्द्रवायव, (२) मैत्रावरुण, (३) शुक्र, (४) मन्थी, (५) आप्रायण, (६-७-८) अतिग्रह [आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य], (९) उक्थ, (१०) आश्विन । ये दस ग्रह क्रमशः प्रातःसवन में ग्रहण किये जाते हैं । तात्पर्य है, विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से पात्रों में सोमरस भरा जाता है । ‘आश्विनो दशमो गृह्यते’ के अनुसार ग्रहण-क्रम में आश्विन ग्रह दसवाँ है; परन्तु ‘तृतीयो ह्यते—द्विदेवत्यश्चरति [कात्या० श्रौत० १।१।११] के अनुसार पहले दो-दो देवतावाले ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और

‘आलम्भन’ है और परीक्षा से स्वास्थ्य का शोधन ‘अवदान’ है ।

संहिता-ग्रन्थों में इन प्रसंगों का वर्णन करने के अवसर पर कतिपय पदों का प्रयोग चिन्तनीय अवश्य है । सम्भव है, आरम्भकाल में इन प्रसंगों के वर्णन के अवसर पर ‘अवदायति’ क्रियापद प्रयुक्त होता रहा हो । कालान्तर में रसनालोलुपता की शान्ति के लिए धर्म की आड़ लेकर यज्ञ-अवसर पर—शुद्ध व्यावहारिक जनहितकारिणी पद्धति को भुलाकर—आमिष-प्रयोग का प्राधान्य हो जाने पर ‘अवदायति’ का स्थान ‘अवद्यति’ ने ले लिया हो । संहिताओं के लेख इसी अनन्तर-काल के हैं, इस सम्बन्ध की सभी खुराफ़ात से भरे हैं ।

इन प्रसंगों पर विचार करते हुए अमावास्या में होनेवाली इष्टि के ‘दक्ष’ नामकरण के प्रवृत्तिनिमित्त को कभी मूलना नहीं चाहिए । अभी तक पशुओं के ‘स्वास्थ्य-दर्शन’ के अतिरिक्त अन्य किसी प्रवृत्ति-निमित्त का पता नहीं लगा । जिसको पता हो, वह बताने की कृपा करेंगे । आज भी उसी का आंशिक रूप प्रतीक मात्र से समस्त भारत में अमावास्या के दिन कृषि में प्रयुक्त होने वाले पशुओं को ‘पूर्ण विश्राम’ देना है ।

आश्विन ग्रह से क्रमशः यजन होता है। इस प्रकार आश्विन 'ग्रह ग्रहण' (सोमरस भरे जाने) में दसवें और यजन में तीसरे स्थान पर आता है। इस प्रकार ग्रहों में समुच्चय और क्रम दोनों देखे जाते हैं।

यहाँ जिज्ञास्य है—यदि 'सोमेन यजेत' को अनुवादक न मानकर अपूर्वविधि माना जाता है, तो 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में 'श्रीहिभिर्व्यजेत, यवैर्व्यजेत' के समान विकल्प माना जाना चाहिए, क्योंकि इनका देवता-निर्देशरूप एक प्रयोजन है, और समानबल वाक्य हैं। विकल्प माने जाने पर ग्रहों के विषय में प्रथम निर्दिष्ट क्रम-समुच्चय उपपन्न न होंगे। फलतः 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानना युक्त न होगा। आचार्य ने समाधान किया—

**तद्भेदात् कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद् भेदो
द्रव्यगुणीभावात् ॥१६॥**

[तद्भेदात्] देवता के भेद से [कर्मणः] कर्मयाग का [अभ्यासः] अभ्यास—आवर्त्तन होता है; [द्रव्यपृथक्त्वात्] ग्रहसंज्ञक पात्रों में रखे सोमरस द्रव्य के पृथक्-पृथक् होने से संस्कार का भेद है [द्रव्यगुणीभावात्] सोमरस द्रव्य के प्रति ग्रहण के गुणभूत होने से उसका भी [भेदः] भेद—अभ्यास होता है। [हि] यतः—क्योंकि एक बार ग्रहण करके याग करने पर [अनर्थकम्] 'आश्विनो दशमो गृह्णाते' इत्यादि क्रमविधि अनर्थक [स्यात्] हो जाता है।

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मित्रवरुणं गृह्णाति' आदि वाक्यों में ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि इन्द्रवायु देवता के लिए याग करो, मित्र-वरुण देवता के लिए याग करो। ये वाक्य केवल द्रव्य के साथ देवता के सम्बन्ध का द्योतन करते हैं। इन्द्रवायु देवता-सम्बन्धी सोमरस का ग्रहण करता है, मित्र-वरुण देवता-सम्बन्धी सोमरस का ग्रहण करता है—केवल इतना अर्थ प्रकाश करने में इनका तात्पर्य है। यदि 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि नहीं माना जाता, तो यह सोमरस का ग्रहणरूप संस्कार अनर्थक हो जाता है, क्योंकि विधि के अभाव में ग्रहसंज्ञक पात्रों में गृहीत सोमरस से यजन तो किया नहीं जायगा; अतः सोमरस का यह संस्कार व्यर्थ होगा।

जिस देवता का संकल्प करके विशेष पात्र में सोमरस भरा जाता है, वह सोमरस उसी देवता के लिए यजन किया जाता है। इन्द्रवायु देवता के संकल्प से पात्र में भरा सोमरस, उस सोमरस से भिन्न है, जो मित्रवरुण देवता के संकल्प से पात्र में भरा गया है। देवता-भेद एवं पात्र-भेद से यह द्रव्य का भेद स्पष्ट है। 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानने पर देवताभेद से एक ही सोमयाग की आवृत्ति माने जाने से दस ग्रहों का समुच्चय संगत होता है। यदि इन वाक्यों को विधायक मानकर 'सोमेन यजेत' को इनका अनुवादक कहा जाता है, तो इसका

तात्पर्य होता है अकेली देवता से ही याग का सम्पन्न हो जाना । इस दशा में ग्रहों का समुच्चय अनर्थक हो जाता है ।

यदि कहा जाय, सोमरस-ग्रहरूप संस्कार के प्रति देवता का विधान अदृष्ट के लिए है, तो उस दशा में यह स्पष्ट है कि इन्द्रवायु-संकल्प से जनित अदृष्ट, मित्रावरुण-संकल्प से जनित अदृष्ट से भिन्न होता है । इसी प्रकार अन्य सब ग्रहणों में उस-उस देवता का संकल्प विभिन्न अदृष्टों को उत्पन्न करता है । इस अवस्था में भी ग्रहों का समुच्चय संगत होता है । ग्रहणवाक्यों को विधायक मानने का, पर्यवसान याग के प्रति देवता के विकल्प पर होता है । तात्पर्य है—किसी एक देवता से याग के उपपन्न हो जाने के कारण यागों का समुच्चय न रहता ।

भाष्यकार ने १७वें सूत्र की अवतरणिका में 'सोमेन यजेत' वाक्य देकर चर्चा का प्रारम्भ किया है; परन्तु इस सूत्र के भाष्य में 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' वाक्य दिया है । इनमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों समानार्थक वाक्य हैं । ज्योति का अर्थ है—सोम, स्तोम का अर्थ है—स्तुति करना । जहाँ सोम के लिए स्तुति की जाती है, वह ज्योतिष्टोम है । यही अर्थ 'सोमेन यजेत' का है । इन वाक्यों में देवता का निर्देश न होने पर भी इनको अपूर्वविधि मानने में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि प्रकरण में पठित 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मित्रावरुणं गृह्णाति' आदि वाक्यगत देवताओं से उक्त वाक्यों की देवताविषयक आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है, अन्य किसी देवता की अपेक्षा नहीं रहती । फलतः 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानना युक्त है ॥१६॥

'खादिरे बध्नाति' आदि के समान ग्रहण-वाक्यों में जो विकल्प की आशंका की गई, वह युक्त नहीं; क्योंकि—

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वात्, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥

[संस्कारः] 'खादिरे बध्नाति' आदि वाक्यों द्वारा निदिष्ट पशुबन्धनरूप संस्कार [तु] तो [न] नहीं [भिद्येत] भिन्न होवे । [द्रव्यस्य] यूप द्रव्य के [परार्थत्वात्] परार्थ होने से, अर्थात् बन्धनरूप प्रयोजन के लिए होने से, [गुण-भूतत्वात्] सोमयाग के प्रति यूप के गुणभूत=अंगरूप होने के कारण पशुबन्धन-रूप संस्कार का खादिर आदि यूपों में अभ्यास नहीं होगा ।

पशुबन्धन के लिए यूप-निर्माणार्थ खैर, ढाक, बहेड़ा आदि लकड़ियों के विकल्प के समान 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में भी ऐन्द्रवायव-सोमरस मित्रावरुण-सोमरस आदि का विकल्प होना चाहिए,—जो यह आपत्ति प्रथम उठाई गई है, वह ठीक नहीं है । क्योंकि ग्रहपत्रों में सोमरस-ग्रहरूप संस्कार सोम-याग के प्रति गौण नहीं है, वह सोमयाग का प्रधान साधन है; वहाँ विकल्प सम्भव

नहीं, अन्यथा ग्रहण-संस्कार ही व्यर्थ हो जाएगा,—यह गत सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु पशुबन्धन में यूप की वह स्थिति नहीं है; पशुबन्धनरूप संस्कार खैर, ढाक आदि उपादानों से निर्मित यूपों में से किसी में भी किया हुआ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि खादिर आदि यूप पशुबन्धन के लिए श्रुत हैं। इन्द्रवायु आदि देवता यागकर्म के प्रति श्रुत नहीं हैं; ग्रह-ग्रहण (ग्रहसंज्ञक पात्रों में सोमरस भरने) के प्रति श्रुत हैं। अतः इनका समुच्चय होगा, विकल्प नहीं ॥२०॥ (इति पशुसोमापूर्वताधिकरणम्—६)।

(संख्याकृतकर्मभेदाधिकरणम्—७)

वैदिक वाङ्मय में पठित है—‘वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत’ स्वाराज्य—परतन्त्रता के अभाव की कामनावाला व्यक्ति वाजपेय से यजन करे। वाजपेय के अन्तर्गत पशुयाग-प्रसंग में कहा—‘सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् ‘आलभते’ प्रजापति देवतावाले सत्रह पशुओं का आलभन करे। अन्यत्र कहा—‘सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्ययं प्रजापति सत्रह अवयववाला है, प्रजापति की प्राप्ति के लिए। ‘श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति, ... एवमेव हि प्रजापतिः समृद्धयै’ दयामवर्ण शृङ्गरहित समान आकृतिवाले सत्रह पशु होते हैं; इस प्रकार का प्रजापति ही समृद्धि के लिए है। शिष्य आशंका करता है, ये सत्रह क्या पृथक् अपूर्वविधि हैं? अथवा ऐन्द्रवायव आदि दस ग्रह-ग्रहणों के समुच्चय के समान सत्रह पशु-समूह-वाला एक कर्म है? जैसे—इन्द्रवायु आदि देवता के लिए ग्रहपात्र में गृहीत सोमरस संकल्पित होता है, ऐसे ही प्रजापति देवता के लिए सत्रह पशु संकल्पित किये जाते हैं। इस प्रकार दस ग्रह-ग्रहणों के समुच्चय के समान यहाँ भी एक कर्म मानना उपयुक्त होगा। अतः सत्रह पशुओं से किया जानेवाला यह एक याग है। आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥

[पृथक्त्वनिवेशात्] पार्थक्य का बोध कराने में विद्यमान रहने से, अर्थात् पार्थक्य का प्रतीक होने से [संख्यया] सप्तदश संख्या के द्वारा [कर्मभेदः] कर्म का भेद [स्यात्] है, यहाँ।

‘सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते’ इस विधिवान्य में पठित ‘सप्तदश’ संख्या सत्रह पशुयागों का विधान करती है। पशु अलग-अलग हैं; एक पशु-प्रदान से किया गया याग पूरा हो जाता है। सत्रह संख्या की साधकता उसी अवस्था में सम्भव है, जब प्रत्येक पशुयाग को पृथक् माना जाय। अतः यहाँ संख्या के

आधार पर कर्मभेद मानना न्याय्य है।

यद्यपि चातुर्मास्य याग में 'एकादश प्रयाजान् यजते' वाक्यगत एकादश संख्या श्रुत है, परन्तु यह 'प्रयाज ग्यारह हैं' इतना-मात्र बोध कराने में सीमित है। यह कर्म के भेद का विधान नहीं करती। इसी प्रकार 'दर्शतान् अध्वर्युः प्रातः-रात्रवे ग्रहान् गृह्णाति' वाक्य में दश संख्या देवताभेद से ग्रह-यात्रस्थित सोमरस का भेद बताने तक सीमित है; कर्मभेद की विधायिका नहीं है।

सोमयाग के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग समस्त पशुयागों की प्रकृति है। वाजपेय-प्रसंग में पठित है—सत्रह प्राजापत्य पशु। एक पशु के ग्यारह अवदानों—अवयवों से याग सम्पन्न किया जाता है। द्वितीयादि पशु के अवदान प्रथम याग के लिए अनपेक्षित हो जाते हैं। यागसिद्धि के लिए एक पशु के ग्यारह अवदान—अवयव निम्न प्रकार बताये जाते हैं—

(१) हृदय, (२) जिह्वा से उपलक्षित मुख-माथा आदि, (३) वक्षस्, छाती का मध्यभाग, (४) यकृत्, जिगर, (५-६) दोनों वृक्क, दोनों ओर के गुदों के पिण्ड, (७) अगली टाँगों के मूल व मध्य-भाग, (८-९) दोनों ओर के पसलियों के भाग, (१०) बकियाँ व कटि-भाग कमर तक, (११) गुदा व उससे नीचे के भाग।

एक पशु के इन अवयवों से एक कर्म सम्पन्न, सिद्ध हो जाता है। अग्नीषोमीय पशुयाग-प्रसंग में 'हृदयस्याग्नेऽवर्चति' आदि वाक्यों में 'अवर्चति' क्रियापद दिवा-दिगणी 'दो अवलण्डने' धातु का रूप है। उसका अर्थ है—मूले हृदय का अवदान करता है। 'अवदान' पद का अर्थ है—अवयव विभाग करना, अथवा टुकड़ा काटकर अलग करना। आज यह दूसरा अर्थ ही ठीक समझा जाता है। इसके विपरीत आदिकाल के कृषिजीवी-वर्ग में पशुयजन अर्थात् पशुपूजन की पद्धति भिन्न प्रकार की थी। वे प्रतिमास एक दिन, अमावास्या को कृषि-उपयोगी पशुओं को विशेषतः, तथा अन्य सब पशुओं को साधारणतः, विश्राम देते तथा उनके प्रत्येक अंग को शुद्ध जल से धोकर स्वच्छ करते थे। ग्यारह पशु-देहान्गों का जो प्रथम उल्लेख किया है, उसमें समस्त शरीर आ जाता है; कोई अंग शेष नहीं रहता। प्रत्येक अंग के मालिन्य को रगड़-धोकर अलग कर दिया जाता था। आश्चर्य है, पशुपूजा की यह पद्धति आज भी समस्त भारत के कृषिजीवी-वर्ग में प्रचलित है।

अनन्तर-काल में समाज के प्रभावी बुद्धिजीवी, पर-स्वार्थी विषयलम्पट रसनालोलुप कुछ लोगों ने समाज व देश के इतने उपयोगी पशु को, अदृश्य कल्पित देवता के नाम पर यज्ञ-मण्डप जैसे पवित्र धार्मिक कार्य के केन्द्रस्थान को पशु-बधशाला बना डाला। अवसर पाकर कालान्तर में इसी को धर्म का अंश समझा जाने लगा। 'हृदयस्याग्नेऽवर्चति' आदि वाक्य ऐसे ही काल में लिखे गये प्रतीत होते हैं।

प्रचार एवं अन्ध परम्परा के बल पर समाज में स्थान पा जाने पर भी इस मान्यता का प्रबल विरोध करनेवाले व्यक्ति समय पर प्रादुर्भूत होते रहे हैं, जिन्होंने यागसदृश पवित्र कार्यों में हिंसा के प्रयोग को स्पष्ट अधर्मजनक बताकर पाप-कोटि में रक्खा है, तथा अनेक विद्वन्मूर्द्धन्य व्यक्तियों के द्वारा जड़मूल से ही यज्ञिय हिंसा को उखाड़ डालने का प्रयास किया जाता रहा है। तात्पर्य है, समाज में स्थान पा जाने पर भी इसका विरोध बराबर होता रहा है। समाज के पर्याप्त बड़े भाग ने इस मान्यता को कभी नहीं स्वीकारा।

प्रजापति देवता से सम्बद्ध सत्रह पशु क्या हैं? विचारणीय है।^१ ज्ञात होता है, सत्रह का सम्बन्ध कालकृत है। प्रजापति सूर्य का नाम है। सूर्य के चारों ओर पृथिवी एक परिक्रमा जितने समय में पूरा करती है, वह एक संवत्सर है। काल की गणना करनेवाले ज्योतिर्विदों ने उस परिक्रमा के काल को बारह भागों में बाँटा। ये 'बारह आदित्य' नाम से समस्त वैदिक वाङ्मय में ज्ञात हैं। ये बारह प्रजापति हैं। संवत्सर का आगे स्थूल विभाग ऋतु हैं। पूरे संवत्सर में छह ऋतु माने जाते हैं। परन्तु संहिता व ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों पर यह वाक्य आता है—'पञ्चतंत्रवः हेमन्तशिशिरयोः समासेन' हेमन्त और शिशिर को एक मानकर ऋतु पाँच है। इस प्रकार संवत्सर के बारह आदित्य और संवत्सर की पाँच ऋतु मिलाकर सत्रह संख्या पूरी हो जाती है। इस काल-विभाग से उपलक्षित पशु सत्रह कहे गये; उनकी वास्तविक संख्या चाहे जितनी रही हो। इसका तात्पर्य है—संवत्सर का कोई भी अवसर हो, अमावास्या का दिन पशुयजन अर्थात् पशुपूजा का है—चाहे पशु एक हो, अथवा अनेक। यदि किसी कृषिजीवी के पास एक ही पशु है, तो वह उसी की पूर्वोक्त पद्धति से पूजा कर व्यवस्थित याग को सम्पन्न करता है। अनेक पशु होने पर वही पद्धति अलग-अलग सबके साथ बरती जाती है। इसलिए संख्या के आधार पर यह कर्मभेद है—प्रत्येक पशु का उसी प्रकार नहला-धुलाकर संस्कार करना। इस कार्य का देवता प्रजापति है।

यह रहस्य अभी अन्वेष्य है कि इस कार्य के लिए अमावास्या का दिन ही क्यों निर्धारित किया गया? यह साधारण बात है कि चान्द्रगणना से महीने का अन्तिम दिन होने के कारण इसका चुनाव किया गया हो। पर इसमें अन्य—अभी तक अज्ञात—रहस्य की भी सम्भावना हो सकती है, क्योंकि उस दिन हमारा

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने शाबर भाष्य के हिन्दी रूपान्तर में इसी प्रसंग पर सत्रह संख्या का सामञ्जस्य आधिदैविक स्थिति के साथ बहुत सूक्ष्म-बुद्ध व विद्वत्तापूर्ण रीति पर प्रस्तुत किया है। जिज्ञासु पाठक वहीं से पढ़कर उन तथ्यों को समझने का प्रयास करें।

पृथिवी-भाग चन्द्रमा की शीतल किरणों से वञ्चित रहता है। सम्भव है ऐसी स्थिति में किसी प्रतिकूल प्रभाव से बचने के लिए यह दिन चुना गया हो, जो पशुओं की सुरक्षा व स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी हो ॥२१॥ (इति संख्या-कृतकर्मभेदाधिकरणम्—७)।

(संज्ञाकृतकर्मभेदाधिकरणम्—८)

वैदिक वाङ्मय में पाठ आता है—‘अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः। एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत।’—यह ज्योतिः, यह विश्वज्योतिः है, यह सर्वज्योतिः है; इस एक सहस्र गायों की दक्षिणावाले वाग से यजन करे। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़े जाने से ‘ज्योतिः’ आदि पद ज्योतिष्टोम के प्रतीक होकर उसके अनुवादक हैं, और सहस्रदक्षिणारूप गुण का उसमें विधान करते हैं, अथवा ये अपूर्वविधि हैं? अर्थात् इन नामों के ये स्वतन्त्र विधि हैं? ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने से इन्हें ज्योतिष्टोम के अनुवादक क्यों न माना जाय? आचार्य ने समाधान किया—

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥

[उत्पत्तिसंयोगात्] उत्पत्तिवाक्य के संयोग से, अर्थात् विधिवाक्य में सुने जाने से [संज्ञा] ‘ज्योतिः’ आदि नाम [च] निश्चय से कर्म के भेदक हैं।

‘अथैष ज्योतिः’ इत्यादि विधिवाक्यों में पठित ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः पद अपूर्व कर्म के विधायक हैं। यह कहना युक्त नहीं कि ये नाम ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने से ज्योतिष्टोम के प्रतीक हैं, और उसी के अनुवादक हैं। कारण यह है कि इनका कथन ‘अथ’ पद से प्रारम्भ हुआ है, इसका तात्पर्य है कि इनका पहले कथन कहीं नहीं किया गया। तब इन नाम-पदों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। विधिवाक्य से ‘ज्योतिः’ आदि कर्मान्तरों का विधान है। प्रकरण-बल से इन्हें ज्योतिष्टोम का प्रतीक इस कारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वाक्य प्रकरण की अपेक्षा बलवान् होता है। एक-दो वर्णों की समानता से ज्योतिष्टोम का इन्हें प्रतीक बताना नितान्त अयुक्त है। क्या गृहवाची शाला पद के ‘ला’ वर्ण की समानता ‘माला’ पद के साथ होने पर ‘माला’ पद को गृहवाची कहा जा सकता है? कदापि नहीं। ऐसा ही ‘ज्योतिः’ आदि संज्ञा-पदों में समझना चाहिए।

१. द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा० १६।८।१—अथैष ज्योतिः। १६।१०।१—अथैष विश्वज्योतिः। १६।११।१—अथैष सर्वज्योतिः।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि ज्योतिष्टोम याग की दक्षिणा ताण्ड्य ब्राह्मण [१६।१।११] तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१३।५।१] में १०१२ (= द्वादश सहस्रं दक्षिणा = द्वादश अधिक सहस्र अर्थात् १०१२) बताई है। परन्तु इन 'ज्योतिः' आदि यागों की दक्षिणा एक सहस्र गायों का दान है। यदि इनको ज्योतिष्टोम का अनुवादक माना जाता है, तो दक्षिणा-सम्बन्धी इस कथन से ब्राह्मण और सूत्र में कही गई ज्योतिष्टोम की दक्षिणा का बाध होगा, जो अनिष्ट है। अतः 'ज्योतिः' आदि पदों को ज्योतिष्टोम का अनुवादक कहना असंगत है। ज्योतिष्टोम की दक्षिणा १०१२ बताई गई है, तथा 'ज्योतिः' आदि यागों की १०००। इससे स्पष्ट होता है, 'ज्योतिः' आदि ज्योतिष्टोम से भिन्न अपूर्व कर्म हैं।

ज्योतिष्टोम के उपसंहार प्रसंग में कहा — 'त्रिवृदादीन्यस्य ज्योतीषि' [तै० ब्रा० १।५।११] — त्रिवृत् आदि स्तोम इस ज्योतिष्टोम के ज्योति हैं, जो इसका स्तवन करते हैं। प्रश्न किया — 'कृतमानि तानि ज्योतीषि, य एतस्य स्तोमाः' — ये कौन-से ज्योति हैं, जो इसका स्तवन करते हैं ? बताया — 'त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंशः। एतानि वाव तानि ज्योतीषि, य एतस्य स्तोमाः।' — त्रिवृत् स्तोम, पञ्चदशस्तोम, सप्तदशस्तोम, एकविंशस्तोम, ये वे ज्योति हैं, जो इसका (ज्योतिष्टोम का) स्तवन करते हैं।

इस विषय में यह कहना युक्त नहीं है कि वाक्यशेष में उल्लिखित त्रिवृत् आदि स्तोम अग्निष्टोम की ज्योतिर्या हैं, और उन्हीं का निर्देश 'विश्वज्योतिः' तथा 'सर्वज्योतिः' पदों से यहाँ किया गया है; इसलिए 'विश्वज्योतिः' और 'सर्वज्योतिः' पदों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक मानकर उसका अनुवादक माना जाना चाहिए।

इस कथन की अयुक्तता में निश्चित कारण यही है, त्रिवृत् आदि पदों में ज्योतिः शब्द प्रसिद्ध नहीं है। तात्पर्य है, ज्योतिः पद अभिधाशक्ति से त्रिवृत् आदि का बोध नहीं कराता। अतः 'विश्वज्योतिः' आदि पद त्रिवृत् स्तोम आदि का परामर्श नहीं कर सकते। त्रिवृत् आदि स्तवन ज्योतिष्टोम के बिना अनुपपन्न होंगे, इस प्रकार अर्थापत्ति के आधार पर ज्योतिष्टोम की उपस्थिति लाक्षणिक है, लक्षणाशक्ति से प्राप्त है। अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ के विधान में लाक्षणिक अर्थ का प्रवेश नहीं होता। 'सिंहो माणवकः' वाक्य में माणवकः [पठोरा, किशोर] के लिए सिंह शब्द का प्रयोग शौर्य आदि गुण के कारण गौण है, औपचारिक है। यदि कहा जाय, सिंह को मार डालो, तो माणवक को नहीं मार डाला जाता। जहाँ अभिधाबोध्य अर्थ अनुपपन्न हो, वहाँ लक्षणा की जाती है; पर लाक्षणिक अर्थ अभिधाबोध्य अर्थ की सीमा में प्रवेश नहीं करता। ऐसी स्थिति में त्रिवृत् आदि स्तोम, ज्योतिः-पदबोध्य अर्थ की सीमा से बाहर रहते हैं। अतः

‘विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः’ पद त्रिवृत् आदि स्तोमों के परामर्शक या निर्देशक नहीं कहे जा सकते। फलतः अग्निष्टोम के अनुवादक न होकर ये वाक्य कर्मान्तर के विधायक हैं, यह स्थिर होता है। ॥२२॥ (इति संज्ञाकृतकर्मभेदाधिकरणम्—८)।

(देवताभेदकृतकर्मभेदाऽधिकरणम्—९)

चातुर्मास्य याग के वैश्वदेव पर्व में पाठ है—‘तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्।’—गरम दूध में दही डालता है, उससे फटकर दूध के दो भाग हो जाते हैं—एक गाढ़ा भाग, दूसरा तरल भाग; जो गाढ़ा भाग है उसका नाम आमिक्षा, जो तरल भाग है उसका नाम वाजिन है। उक्त वाक्य में बताया, आमिक्षा वैश्वदेवी है, अर्थात् विश्वेदेव देवताओं के लिए है, और वाजिन वाजी देवताओं के लिए। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या वाजी पद विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक होकर उसमें वाजिन गुण का विधान करता है? अथवा ये दोनों भिन्न कर्म हैं? इन्हें एक कर्म मानना उपयुक्त होगा। इससे आमिक्षा और वाजिन दोनों द्रव्य विश्वेदेव देवतावाले होंगे। इस प्रकार आमिक्षा गुणवाले कर्म में वाजिन द्रव्यरूप गुण का विधान होगा। यह रीति अन्यत्र देखी जाती है, जैसे ‘अग्निहोत्रं जुहोति’ इस विहित अग्निहोत्र-कर्म में ‘दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति’ वाक्यों द्वारा दही और दूधरूप द्रव्य-गुण का विधान होता है। क्या ऐसा ही प्रस्तुत प्रसंग में युक्त है? आचार्य ने समाधान किया—

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥

[अपूर्वसंयोगे] अपूर्व संयोग अर्थात् कर्म के विधान होने में [गुणः] देवतारूप गुण [च] भी कर्म का भेदक होता है। [वाक्ययोः] दोनों ‘सा वैश्वदेवी आमिक्षा’ तथा ‘वाजिभ्यो वाजिनम्’ वाक्यों के [समत्वात्] समान होने से। तात्पर्य है—‘वैश्वदेवी’ पद में तद्धित प्रत्यय—तथा ‘वाजिभ्यः’ पद में चतुर्थी विभक्ति—के द्वारा समानरूप से देवतारूप गुण का विधान होने के कारण इनमें कोई एक वाक्य दूसरे का अनुवादक नहीं हो सकता।

जहाँ देवता प्रकरण से प्राप्त नहीं है, वहाँ देवता के कथन से सम्बन्ध रखने-वाला गुण (कोई विशेषता) कर्मान्तर का विधान करेगा। उक्त दोनों वाक्य समान हैं, और दोनों में देवता का कथन अपनी-अपनी विशेषता के साथ हुआ है; अतः अपने रूप में ये स्वतन्त्र वाक्य हैं; अपूर्व कर्म का विधान करते हैं।

‘वैश्वदेवी आमिक्षा’ देवता का निर्देश करनेवाला ‘वैश्वदेवी’ पदबोध्य ‘विश्वेदेवा देवता अस्याः’—विश्वेदेव हैं देवता इसके—इस अर्थ में ‘सास्य देवता’

[अष्टा० ४।२।२३] सूत्र से विहित 'अण्' प्रत्ययरूप श्रुति से विश्वेदेवों में देवतात्व का कथन होता है। परन्तु देवता का द्रव्यविशेष के साथ सम्बन्ध वाक्य द्वारा जाना जाता है। यद्यपि देवता अर्थ में विहित प्रत्यय से वह द्रव्य भी कहा जाता है, जिसकी वह देवता है, पर उस द्रव्य का 'अस्याः' या 'अस्य' सर्वनाम से देवता के साथ सामान्य सम्बन्ध ही जाना जाता है; विशेष 'आमिक्षा' आदि अर्थ नहीं जाना जाता। वह वाक्य (= विश्वेदेवी आमिक्षा) से बोधित होता है। 'विश्वेदेव हैं देवता इसके' ऐसा वह द्रव्यविशेष आमिक्षा है। इस प्रकार प्रथम वाक्य में देवता श्रुतिबोधित है, और देवता के साथ द्रव्यविशेष का सम्बन्ध वाक्यबोधित है।

दूसरे वाक्य (वाजिन्यो वाजिनम्) में दोनों वाक्यबोधित हैं। 'वाजिभ्यः' इस चतुर्थी विभक्ति के निर्देश से केवल इतना जाना जाता है कि 'वाजी' देवताओं के लिए कुछ दिया जाना है। 'वाजिनम्' इस कर्मकारक पद से केवल इतना जाना जाता है कि यह किसी का ईप्सिततम द्रव्य है। फलतः इस वाक्य में उस वाजी का देवतात्व, तथा उसके साथ 'वाजिन' द्रव्य का सम्बन्ध, दोनों वाक्य से जाने जाते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि दूसरे वाक्य के चतुर्थ्यन्त 'वाजी' पद को विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक माना जाय, तो देवतात्व के प्रति श्रुति और वाक्य का विरोध प्रस्तुत होता है। दोनों के विरोध में श्रुति बलवती होती है [द्रष्टव्य, मी० सू० ३।३।१४]। अतः विश्वेदेव देवताओं के श्रुतिगम्य देवतात्व से वाक्यबोधित देवतात्व बाधित हो जायगा। फलतः द्वितीय वाक्य का चतुर्थ्यन्त 'वाजी' पद विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक नहीं हो सकता। दोनों वाक्य अपने में स्वतन्त्र हैं, एवं कर्मान्तर के विधायक हैं ॥२३॥

'वाजिभ्यो वाजिनम्' को गुणविधि बताने के लिए जो उदाहरण—'अग्नि-होत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' दिया गया, उसके विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

[अगुणे] गुणरहित, [कर्मशब्दे] कर्म के विधायक 'अग्निहोत्रं जुहोति' में [तु] तो [तत्र] वहाँ—उसके समीप में पठित 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में [गुणः] गुण का विधान [प्रतीयेत] जाना जाये।

तात्पर्य है—यदि किसी कर्म-विधायक वाक्य में देवता या द्रव्यरूप गुण का निर्देश नहीं रहता, तो वहाँ समीप-पठित वाक्य में गुण का विधान देख लिया जाता है।

'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में द्रव्यरूप गुण का विधान युक्त है, क्योंकि

अग्निहोत्र होम के विधायक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्रव्यरूप गुण का निर्देश नहीं है। वहाँ द्रव्य गुण की आकांक्षा समीप-पठित 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों से पूरी होती है। परन्तु 'वाजिभ्यो वाजिनम्' में वह स्थिति नहीं है। यहाँ द्रव्य, देवता, दोनों का निर्देश उपलब्ध है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उक्त दृष्टान्त विषम उपन्यास है ॥२४॥ (इति देवताभेदकृतकर्मभेदाधिकरणम्—६)।

(द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मक्याऽधिकरणम्—१०)

'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' में विकल्प के परित्याग की भावना से २४वें सूत्र का अर्थ—इसे भिन्न अधिकरण मानकर दधिहोम और पयो होम को कर्मान्तर मानने का सुभाव सामने आता है। उसके समाधान के लिए यह अधिकरण है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस अग्निहोत्र होम-कर्म के विधायक वाक्य में द्रव्य की आकांक्षापूर्ति के लिए समीप-पठित वाक्यों (दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति) से द्रव्यगुण का विधान माना जाता है, तो चाहे दही से होम करे, चाहे दूध से,—यह द्रव्य का विकल्प प्राप्त होता है। विकल्प न मानना पड़े, इसलिए अच्छा है, इनको कर्मान्तर मान लिया जाय। इसका समाधान सूत्रकार ने किया—

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

सूत्रार्थ पहले के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है—'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में 'जुहोति' पद से वही कर्म जाना जाता है, जो 'अग्निहोत्रं जुहोति' से विहित है। इस वाक्य में अनुक्त द्रव्य का 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों से कथन किया गया है। इसलिए ये भिन्न कर्म न होकर एक ही कर्म हैं। द्रव्यनिर्देश के पृथक् वाक्य (दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति) होने से दधि और पयस् द्रव्य का विकल्प होना युक्त है। इसमें कोई दोष नहीं ॥२४॥ (इति द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मक्याऽधिकरणम्—१०)।

(दध्यादिद्रव्यसफलत्वाधिकरणम्—११)

अग्निहोत्र प्रकरण में पाठ है—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इन्द्रिय की कामनावाले के लिए दही से होम करे। शिष्य जिज्ञासा करता है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' कहकर आगे इन्द्रिय कामनावाले के लिए दधिहोम का विधान किया। क्या यह दधिहोम कर्मान्तर है? अथवा प्रकृत अग्निहोत्र-कर्म में इन्द्रिय-फल के लिए दधि-द्रव्यरूप गुण का विधान करता है? शिष्य ने कहा, यह कर्मान्तर प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्रिय-फल का निर्देश, फल के साधन किसी कर्म का बोध कराता है। कोई फल कर्म के बिना नहीं होता, अतः दधिहोम कर्मान्तर होना चाहिए। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥

[फलश्रुतेः] फल का श्रवण होने से, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में इन्द्रियरूप फल का निर्देश होने से [तु] तो [कर्म] यह दधिहोम अपूर्व कर्म [स्यात्] होना चाहिए। [फलस्य] फल के [कर्मयोगित्वात्] कर्मयोगी—कर्म से सम्बद्ध—होने के कारण। तात्पर्य है, इन्द्रियरूप फल, दधिहोम कर्म से सम्बद्ध होने पर सम्भव है, फल किसी का ही होता है।

लोक में देखा जाता है, कृषि आदि कर्म का फल व्रीहि आदि की प्राप्ति है; बिना कृषिकर्म के व्रीहि आदि फल की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार दधिहोम का फल इन्द्रियपुष्टि है। यह दधिहोम को कर्मान्तर माने बिना सम्भव नहीं। यदि इसे अग्निहोत्र कर्म का अङ्ग मानकर उसी में इन्द्रिय-कामनावाले के लिए दधिद्रव्यरूप गुण का विधान इस वाक्य से माना जाता है, तो इन्द्रिय-फल और होम, दोनों को एकसाथ कहने में 'दधि' पद असमर्थ होगा। तात्पर्य है—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह एक वाक्य है। गुणभूत मानने पर 'दध्ना' का—इन्द्रिय और होम दोनों के साथ—एकसाथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्'-'दही से इन्द्रिय फल को सिद्ध करे' ऐसा कहते हैं, तो दही से होम कहना रह जाता है, वह नहीं कहा जाता। यदि 'दध्ना होमं भावयेत्'-'दही से होम सिद्ध करे' कहते हैं, तो यह वाक्य फल को नहीं कहेगा। तब 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्, दध्ना होमं भावयेत्' दोनों को कहने में वाक्यभेद होता है। एक वाक्य को तोड़कर दो बनाना शास्त्र में दोष माना जाता है। फलतः इसको अग्निहोत्र का अंग मानकर—अग्निहोत्र-कर्म में दहीरूप गुण से फल का विधायक कहना ठीक नहीं है। इसलिए अग्निहोत्र होम से दधिहोम पृथक् कर्म है। अपूर्व कर्म होने पर वाक्य से अनेक गुणों का एकसाथ कथन शास्त्र में स्वीकार किया जाता है। तब प्रस्तुत वाक्य का अर्थ होगा—'इन्द्रियकामः दधिहोमेन इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्'—इन्द्रिय कामनावाला दधिहोम से इन्द्रियरूप फल सिद्ध करे। अतः दधिहोम को कर्मान्तर मानना युक्त है ॥२५॥

विज्ञासा का आचार्य ने समाधान किया—

अतुल्यत्वान्तु वाक्यधोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥

[अतुल्यत्वात्] समान न होने से [वाक्ययोः] 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः' और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इन दोनों वाक्यों के। [तु] तो दधिहोम को कर्मान्तर बताना ठीक नहीं है। [तस्य] उस—दधिहोम का [गुणे] इन्द्रिय-रूप गुण में फलसम्बन्ध [प्रतीयेत] जानना चाहिए।

दधिहोम कर्मान्तर नहीं है, अपितु अग्निहोत्र होम में दधिद्रव्यरूप गुण से

फल-सम्बन्ध का कथन है। ये दोनों वाक्य समान नहीं हैं। 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य में अग्निहोत्र-कर्म के साथ स्वर्ग-फल का कथन है, अर्थात् स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम से स्वर्गरूप फल को सिद्ध करे। इसके विपरीत 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में दधिद्रव्यरूप गुण के साथ फल का कथन है, कर्म के साथ नहीं। यदि कर्म के साथ फल का कथन होता, तो यह भी प्रथम वाक्य के समान कर्मान्तर का विधायक होता। इस वाक्य में 'इन्द्रियरूप फल के लिए होम करे' ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता; किन्तु 'इन्द्रिय की कामनावाले का दही से होम होता है' इतना-मात्र अर्थ इससे ज्ञात होता है। होम का विधान— '—होम करे' ऐसा—नहीं जाना जाता। तात्पर्य है, इन्द्रियकाम व्यक्ति के लिए दधिद्रव्यरूप गुण के द्वारा होम की प्राप्ति होती है। अतः यह वाक्य मुख्यरूप से दधिद्रव्यरूप गुण का विधायक है। जिस अग्निहोत्र होम का प्रसंग है, उसी में इन्द्रियकाम व्यक्ति के लिए दधिद्रव्यरूप गुण का विधान यह वाक्य करता है। अतः दधिहोम कर्मान्तर नहीं है।

'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में 'जुहोति' क्रियापद का अर्थ अनुवाद-रूप है। तात्पर्य है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' से विहित अग्निहोत्र होम का अनुवादक है। तब वाक्यभेद-दोष का अवकाश नहीं रहता। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' से विहित होम में दधिद्रव्यरूप गुण के सन्निवेश से इन्द्रियरूप फल प्राप्त होता है, यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है ॥२६॥ (इति दध्याद्विद्रव्यसफलत्वाधि-करणम्—११) ।

(वारवन्तीयादीनां कर्मान्तराधिकरणम्—१२)

ताण्ड्य ब्राह्मण [१७।६।१-२] में पाठ है—

'त्रिवृदग्निष्टुद् अग्निष्टोमः, तस्य धायव्यासु एकविंशम् अग्निष्टोमसाम त्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत ।'—अग्निष्टोम सामवाला अग्निष्टुत् नामक कर्म

१. सोमयाग की निम्नांकित सात संस्था हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। अग्निष्टोम आदि नाम 'अग्निष्टोम'-संज्ञक सामगान पर सोमयागीय उस संस्था की समाप्ति के आधार पर हैं, अर्थात् सोमयाग की जिस संस्था की समाप्ति, जिस नाम-वाले सामगान से होती है, उसी नाम से वह संस्था जानी जाती है। इनमें अग्निष्टोम संस्था के अन्तर्गत छह अग्निष्टुत् याग ता० ब्रा० [१७।१-६] में विहित हैं। इनमें पहले दो त्रिवृत् अग्निष्टोम हैं, अर्थात् उनमें त्रिवृत् साम से समापन होता है। प्रस्तुत सूत्र के शबर भाष्य में उद्धृत पहला वचन तृतीय अग्निष्टुत् का विधायक है। निदान सूत्र [३।१०] में बताया—

हे; उसकी वायुदेवतावाली^१ ऋचाओं में एकविंश अग्निष्टोम साम करके ब्रह्म-वर्चस की कामनावाला यजन करे। आगे [ताण्ड्य ब्रा० १७।७।१] पाठ है—‘एतस्यैव रेवतीषु^२ वारवन्तीयम् अग्निष्टोम साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत।’ इस अग्निष्टोम की ही रेवती-संज्ञक ऋचाओं में वारवन्तीय अग्निष्टोम साम करके पशुकामनावाला इससे यजन करे। तात्पर्य है—जो व्यक्ति पशुकामना वाला है, वह रेवती प्रतीकवाली आदि ऋचाओं में वारवन्तीय साम को अग्नि-ष्टोम साम बनाकर यजन करे।

यहाँ सन्देह है—क्या उसी सोमयागीय अग्निष्टोम संस्था के अन्तर्गत चौथे अग्निष्टुत् का—वारवन्तीय सामरूप गुण से—पशुरूप फल होने का निर्देश है? और ‘एतेन यजेत’ इससे यजन करे, यह अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का अनुवाद है? अथवा ‘एतेन यजेत’ से वारवन्तीय साम को कर्मान्तर बताने का कथन है?

प्रतीत होता है, दूसरा वाक्य पहले का अनुवादक है, कर्मान्तर नहीं; क्योंकि दूसरे वाक्य के आरम्भ में ‘एतस्य’ सर्वनाम पद के साथ निर्धारणार्थक ‘एव’ पद दिया हुआ है, जिसका अर्थ है—‘इसका ही’। इसका, किसका? पूर्वपठित समीप-स्थित वाक्य का, यही अर्थ यहाँ सम्भव है। इससे स्पष्ट होता है, यह अपूर्व विधान नहीं है; पहले विधान किये गये अर्थ का ही अनुवाद है। इसलिए रेवती-संज्ञक ऋचाओं में वारवन्तीय साम को अग्निष्टोम साम बनाकर वह व्यक्ति यजन करे, जो पशु की कामना रखता है। यह पहले विहित अग्निष्टुत् अग्निष्टोम में वार-वन्तीय सामरूप गुण से पशुफल का निर्देश है। अतः इसे अपूर्वविधि न मानकर

‘यज्ञायज्ञीयमग्निष्टोम साम’ यज्ञायज्ञीय साम अग्निष्टोम साम है। ‘यज्ञायज्ञ’ पद से पाणिनि सूत्र [५।२।५६] द्वारा ‘छ=ईय’ प्रत्यय होकर ‘यज्ञायज्ञीय’ बनता है। तात्पर्य है—‘यज्ञायज्ञा’ पदवाली ऋचा में दृष्ट साम ‘यज्ञायज्ञीय’ साम अग्निष्टोम है। ऋचा है—‘यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।’ [ऋ० ६।४८।१; साम० ७०३]।

१. तृतीय अग्निष्टुत् में अग्निष्टोम साम का गान ‘यज्ञायज्ञा वो अग्नये’ के स्थान पर वायुदेवतावाली ऋचाओं ‘उप त्वा जाययो गिरो०, यस्य त्रिधात्व-वृत्०, पद देवस्य मोडुषो’ [ऋ० ८।१०२।१३-१५] में सामगान किया जाता है।
२. ‘रेवती’ पद ‘रेवतीर्नः’ ऋचा का प्रतीक है। बहुवचन ‘आदि’ अर्थ में है। वे ऋचा हैं—‘रेवतीर्नः सधमाद०, आ ष त्वावान्, आ यद् दुवः [ऋ० १।३०।१३-१५; साम० १०८४-१०८६]। ‘एतस्यैव’ इत्यादि वाक्य चौथे अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का विधायक है। ‘वारवन्तीय’ का अर्थ है—‘वारवन्त पद है जिस साम में’ वह वारवन्तीय साम। ऋचा है—‘अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः’ ऋ० १।२७।१; साम १७, अथवा १६३४॥

गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने समाधान किया—

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥

[समेषु] परस्पर भिन्न होते हुए भी एक-जैसे वाक्यों में [कर्मयुक्तम्] कर्म से युक्त फल [स्यात्] होना चाहिए। तात्पर्य है—ऐसे वाक्यों में अपूर्वविधि के साथ फल का निर्देश होता है।

जैसे पहले वाक्य में ब्रह्मवर्चस की कामनावाले व्यक्ति के लिए अग्निष्टुत् अग्निष्टोम साम करके यजन का विधान है, ऐसे ही प्रस्तुत द्वितीय वाक्य में पशु-कामनावाले व्यक्ति के लिए वारवन्तीय साम करके यजन का विधान है। 'एतस्य' सर्वनाम पद केवल प्रसंग का स्मारक है, पूर्वविहित विधि का परामर्श नहीं करता। कारण यह है कि पूर्वपठित अग्निष्टुत् अग्निष्टोम साम की रेवती-संज्ञक ऋचा है ही नहीं। तब उसका यहाँ परामर्श निराधार होने से असंगत होगा। अतः यह अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म है।

यदि इस दूसरे वाक्य को पशुरूप फल की सिद्धि के लिए पूर्वपठित याग में वारवन्तीय सामरूप गुण का विधायक माना जाता है, तो इसमें वाक्यभेद-दोष उपस्थित होता है। एक वाक्य होगा—वारवन्तीय सामरूप गुण याग का साधन है। दूसरा वाक्य होगा—याग पशुरूप फल का साधन है। वाक्य को गुण और फल दोनों का विधायक मानना होगा; क्योंकि अन्य कोई वाक्य पशुरूप फल का विधायक दृष्ट नहीं है। शास्त्र में वाक्यभेद-दोष माना जाता है। अतः प्रथम वाक्य-विहित याग में—प्रस्तुत द्वितीय वाक्य को—गुण का विधायक न मानकर, प्रथम याग से भिन्न पशुफलवाले वारवन्तीय साम-गुणविशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक मानना युक्त होगा।

अपूर्वविधि मानने में वाक्यभेद क्यों नहीं है? विचारणीय है। अपूर्व रेवती ऋचाओं का विधान और वहाँ अग्निष्टोम साम के कार्य में वारवन्तीय साम का विधान, ये दो विधान एक वाक्य से माने जाने पर अपूर्वविधि होने पर भी वाक्यभेद प्रसक्त होगा। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अपूर्व यागविधि में सब प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट कथन होने के कारण वाक्यभेद नहीं होता। वाक्य-भेद वहाँ होता है, जहाँ किसी पूर्ववाक्य से विहित याग का अनुवाद करके अन्य वाक्य द्वारा एक से अधिक गुणों का विधान किया जाय। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' वाक्य द्वारा विहित अग्निहोत्र का अनुवाद करके 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में होम को उद्देश करके दधिगुण का विधान करें, तो इन्द्रियरूप फल का उससे सम्बन्ध नहीं जाना जायगा। यदि इन्द्रियफल का विधान करें, तो दधि का सम्बन्ध नहीं होगा। यदि 'जुहुयात्' क्रियापद के साथ दोनों का सम्बन्ध जोड़ें, तो

‘दध्ना जुहुयात्’ तथा ‘इन्द्रियकामो जुहुयात् = इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्’ ये दो वाक्य हो जाएँगे। अपूर्वविधि में वाक्य के सब पद परस्पर साकांक्ष रहते हैं; अर्थ-पूर्ति के लिए बाह्य सहयोग की आकांक्षा वहाँ नहीं रहती, इसलिए एकवाक्यता निर्बाध बनी रहती है। फलतः परस्पर भिन्न भी समान प्रकार के वाक्यों में अपूर्वविधि स्वीकार करना स्पष्ट हो जाता है ॥२७॥ (इति वारवन्तीयादीनां कर्मान्तरताधिकरणम्—१२)।

(सौभरनिघनयोः कार्मेक्याऽधिकरणम्—१३)

ताण्ड्य ब्राह्मण [८।८।१०] ज्योतिष्टोम की षोडशी संस्था के अवान्तर प्रकारणगत उक्थ्य स्तोत्र में सौभर ब्रह्मसाम का कथन है। जिस ऋचा ‘धयमु त्वामपूर्व्यं स्यूरं न कञ्चिद् भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे’ [ऋ०८।२।१।१; साम ४०८, ७०८] में यह साम देखा या गाया जाता है, उसका ऋषि सोभरि है; इस आधार पर यह सौभर-साम कहा जाता है। प्रत्येक साम के पाँच—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निघन—अवयवों में निघन अन्तिम अवयव है। इसका अर्थ है समाप्ति। प्रत्येक साम प्रस्ताव से प्रारम्भ होकर निघन पर समाप्त होता है। सौभर ब्रह्म साम के अनन्तर ब्राह्मण [८।८।१८-२०] में पाठ है—

यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः सौभरेण स्तुवीत। हीष् इति वृष्टिकामाय निघनं कुर्याद् ऊर्म् इत्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय। सर्वे वै कामाः सौभरम्।

जो वृष्टि की कामनावाला हो, जो अन्नाद्य की कामनावाला हो, जो स्वर्ग की कामनावाला हो, वह सौभर साम से स्तवन करे। इसके अनन्तर पाठ का अर्थ है—वृष्टि की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति ‘हीष्’ पद से करे; अन्नाद्य की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति ‘ऊर्म्’ पद से करे; स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति ‘ऊ’ पद से करे। अन्त में पढ़ा—सौभर साम सब कामनाओं का पूर्ण करनेवाला है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—आनुपूर्वी से पठित इन दोनों वाक्यों में एक ही कर्म का विधान है? अथवा दोनों वाक्य पृथक् कर्मान्तर के विधायक हैं? प्रतीत होता है, ये कर्मान्तर के विधायक हैं। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निघने कामसंयोगः ॥२८॥

[सौभरे] सौभर साम सम्बन्धी [निघने] निघन के विषय में [पुरुषश्रुतेः]

१. ऋग्वेद के ‘वाजे’ पद के स्थान पर सामवेद में उभयत्र ‘वजि’ पाठ है।

‘कुर्यात्’ क्रियापद-बोध्य कर्त्ता पुरुष के प्रयत्न का श्रवण होने से [कामसंयोगः] फल-विधायक कामना का सम्बन्ध ज्ञात होता है। तात्पर्य है, सौभर साम से एक फल, और निधन से दूसरा फल होता है। फल दोनों जगह वृष्टि है, पर दुहरा होने से अच्छी वृष्टि का विधान है।

यदि दोनों वाक्यों को एक ही कर्म का विधायक मानें, तो—वृष्टि, अन्नाद्य, स्वर्ग—इन फलों का विधान प्रथम वाक्य से हो जाने पर दूसरा वाक्य निरर्थक हो जाता है। निधन-वाक्य की सार्थकता के लिए आवश्यक है, इसे कर्मान्तर माना जाय। इस प्रकार जैसे सौभर साम वृष्टि आदि फलों का साधन है, इसी प्रकार ‘हीष्’ आदि पद-संकेतित निधन भी वृष्टि आदि फलों का साधन है। फलतः इन्हें स्वतन्त्र पृथक् कर्म मानना उपयुक्त होगा। वही फल दुहरा प्राप्त होता है ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को अधूरा बताते हुए जिज्ञासा का समाधान किया—

**सर्वस्य बोक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था
पुनः श्रुतिः ॥२९॥**

[वा] वा पद गतसूत्र-बोध्य अर्थ के निवारण के लिए है, अर्थात् ‘हीष्’ आदि पद-संकेतित निधन अतिरिक्त फल के विधायक नहीं हैं। [सर्वस्य] प्रस्ताव से लेकर निधन-पर्यन्त सम्पूर्ण सौभर साम का [उक्तकामत्वात्] तथाकथित—वृष्टि, अन्नाद्य एवं स्वर्ग-कामनावाला होने से [पुनः श्रुतिः] ‘हीष् इति वृष्टि-कामाय’ इत्यादि द्वितीय वाक्य में पुनः वृष्टि आदि फल का श्रवण [निधनार्था] निधन के व्यवस्थापन के लिए [स्यात्] हुआ है।

‘वा’ पद इस पूर्वोक्त का निवारण करता है कि निधन में दूसरा फल होता है। निधन-वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि वृष्टि की कामना के लिए ‘हीष्’ पद का उच्चारण करे; प्रत्युत उसका अर्थ है—‘हीष्’ पद सौभर साम की समाप्ति का द्योतक है। प्रश्न होता है—कौन-से सौभर साम की समाप्ति का द्योतक है? क्योंकि सौभर साम वृष्टिकाम, अन्नाद्यकाम और स्वर्गकाम, इन तीन कामनाओंवाला कहा है। उत्तर है—वृष्टि कामनावाले सौभर साम का निधन (समापन) ‘हीष्’ पद के उच्चारण के साथ किया जाता है।

निधन-वाक्य को कर्मान्तर मानकर उसका दूसरा वृष्टिफल बताना इस कारण युक्त नहीं है कि वह वृष्टिफल ‘यो वृष्टिकाम...सौभरेण स्तुवीत’ वाक्य से प्रथम ही विहित कर दिया गया है, उसको दुहराना निष्प्रयोजन है। तब प्रश्न होता है—‘हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्’ वाक्य में वृष्टिफल का निर्देश प्रमादपाठ है? उत्तर है, नहीं। यह प्रमादपाठ नहीं है। अनेक कामनाओंवाले सौभर साम के निधन के लिए अन्य अनेक पदों के प्रयोग प्राप्त हो सकते हैं। यह

वाक्य इस बात की व्यवस्था करता है कि वृष्टि-कामनावाले सौभर साम का निधन 'हीष्' पद के उच्चारण के साथ ही होगा, अन्य पद के नहीं। इसी प्रकार भन्नाद्य-कामनावाले सौभर साम का निधन 'ऊर्क्' पद के साथ होगा, अन्य के नहीं; तथा स्वर्ग की कामनावाले सौरभ साम का निधन 'ऊ' पद के साथ होगा, अन्य के नहीं। इसी व्यवस्था के लिए प्रत्येक निधन के साथ पुनः फल का निर्देश किया गया है। इसलिए दुबारा फल का निर्देश न प्रमादपाठ है, और न अतिरिक्त फल का विधायक है। इस प्रकार सौभर साम प्रस्ताव से प्रारम्भ होकर निधन-पर्यन्त अपने सब अवयवों को सम्पन्न करता हुआ यथाकाम हीष्, ऊर्क्, ऊ पदों के साथ पूरा हो जाता है। यह एक ही कर्म है। निधन-वाक्य कर्मान्तर का विधायक नहीं है ॥२६॥ (इति सौभरनिधनयोः कार्मेवयाऽधिकरणम्—१३)।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

(ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१)

गत पाद के छठे अधिकरण में ग्रह-संज्ञक दस काष्ठ-पात्रों का प्रसंगवश उल्लेख हुआ है। इन पात्रों में विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से संस्कृत सोमरस भरा जाता है। एकसाथ सब पात्रों का भरा जाना सम्भव न होने से यह कार्य क्रमपूर्वक होता है। किस प्रसंग में कौन-से देवता के उद्देश्य से पात्र प्रथम भरा जाय, यह इस अधिकरण में विवेचन करना है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१०।२।१] में पाठ है—‘स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत’—स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे; यह प्रारम्भ कर आगे पाठ आता है—‘यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्र वायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्।’ ज्योतिष्टोम और सोम पर्यायवाची पद हैं—जो ज्योतिष्टोम है, वही सोम है। इसी के अनुसार बताया—यदि सोम अर्थात् ज्योतिष्टोम रथन्तर सामवाला हो, तो सबसे प्रथम इन्द्रवायु देवतावाले ग्रह-संज्ञक पात्र में सोमरस का ग्रहण करे, यदि बृहत् सामवाला ज्योतिष्टोम हो, तो सबसे प्रथम शुक्र देवतावाले ग्रह-पात्र में सोमरस भरा जाय; यदि ज्योतिष्टोम जगत्-सामवाला हो, तो सबसे प्रथम आग्रयण देवतावाला ग्रह-पात्र सोमरस भरने के लिए ग्रहण किया जाता है।

ये ग्रह-पात्र संख्या में दस होते हैं। उनका साधारण क्रम निम्न प्रकार है—(१) ऐन्द्रवायव, (२) मंत्रावरुण, (३) शुक्र, (४) मन्थी, (५) आग्रयण, (६-७-८) अतिग्रह (= आग्नेय, ऐन्द्र, सौर्य); (९) उक्थ, (१०) आश्विन। इस सामान्य क्रम को आधार मानकर, जब ज्योतिष्टोम रथन्तरसामगान^१ के साथ सम्पन्न होता हो, तब सबसे प्रथम इन्द्रवायु देवतावाला ग्रहपात्र सोमरस से भरा जाता है, अनन्तर

१. रथन्तरसाम की ऋचा, ‘अभि त्वा शूर नोनुमः’ [ऋ० ७।३२।२२; साम० २३३; ६८०]।

सामान्य क्रम के अनुसार शेष पात्र भरे जाते हैं। जब ज्योतिष्टोम बृहत्सामगान' के साथ सम्पन्न हो, तब सबसे प्रथम सोमरस भरने के लिए शुक्र देवतावाला ग्रह-पात्र लिया जाता है। अनन्तर शेष ग्रहपात्र सामान्य क्रम के अनुसार भर लिये जाते हैं। इसी प्रकार जगत् सामवाले ज्योतिष्टोम में सर्वप्रथम आग्रयण^२ देवता-वाला पात्र भरा जाता है, शेष उसके आगे के सामान्य क्रम से भरे जाते हैं।

उक्त वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये वाक्य ज्योतिष्टोम ऋतु के ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों के यथानिर्देश अग्रतारूप गुण का विधान करते हैं? अथवा रथन्तरसामा और बृहत्सामा ऋत्वन्तर के विधायक हैं? प्रतीत होता है, रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद बहुव्रीहि समास के अनुसार ऋतु का विशेषण होने से—ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता-विशिष्ट एवं शुक्र-ग्रहाग्रता-विशिष्ट—उक्त नाम-वाले ऋतुविशेषों के विधायक हैं। ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता आदि ज्योतिष्टोम के गुण नहीं हैं। सूत्रकार ने प्रथम इसी शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

**गुणस्तु ऋतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत्
संयोगस्थ्याशेषभूतत्वात् ॥१॥**

सूत्र में 'तु' पद निषेधार्थक है। [गुणः-तु] रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद गुण नहीं हैं; अर्थात् ये पद ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रतारूप गुण के विधायक नहीं हैं। [ऋतु-संयोगात्] पदों में बहुव्रीहि समास के आधार पर इनका ऋतु के साथ सीधा सम्बन्ध होने से। [कर्मान्तरं प्रयोजयेत्] ऋतु के साथ सम्बन्ध इनके कर्मान्तर = ऋतुविशेष होने का प्रयोजक है। [संयोगस्थ] ऋतु के साथ सम्बन्ध के [अशेषभूतत्वात्] पूर्ण ऋतु का रूप होने के कारण।

तात्पर्य है, रथन्तरसामा एवं बृहत्सामा पद से वही ऋतु अभिप्रेत है, जिसका

१. बृहत्साम की ऋचा, 'त्वामिद्धि हवामहे साता' [ऋ०६।४६।१; साम०२३४; ८०६], 'साता' पद के स्थान पर सामवेद में 'सातौ' पाठ है।
२. जगत्साम के लिए जगती छन्द की 'ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं' [ऋ० ६।८१०; साम० १०३१] आदि तीन ऋचा बताई जाती हैं। प्रस्तुत विचार में 'यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्' वाक्य प्रसंग-(अग्रता-सामान्य)-वश यहाँ पढ़ा गया है। क्योंकि जैसे रथन्तर-सामा और बृहत्सामा का ज्योतिष्टोम में साक्षात् विधान है, वैसे जगत्साम का साक्षात् विधान नहीं है। सूत्रकार ने स्वयं आगे 'जगत्सामिन् सामाभावाद् ऋत्वतः साम तदाख्यं स्यात्' [१०।१।५८] सूत्र से कहा है—'यदि जगत्सामा' वाक्य द्वारा विकृतिरूप ऋत्वन्तर का विधान है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में जो विचार किया गया है, उसका मुख्य आधार केवल 'रथन्तरसामा' और 'बृहत्सामा' पद है।

इन दो सामों के अतिरिक्त अन्य कोई साम न हो। तभी उसका पूर्णऋतु होना स्पष्ट होता है। परन्तु ज्योतिष्टोम के गायत्र, त्रिवृत् आदि अन्य भी अनेक साम हैं। अतः रथन्तरसामा एवं बृहत्सामा ऋतु ज्योतिष्टोम से भिन्न कर्म हैं।

प्रस्तुत चर्चा के प्रमुख आधार रथन्तरसामा और बृहत्सामा ये दो पद हैं। इनमें बहुव्रीहि समास है—‘रथन्तर साम यस्मिन् ऋतो गः’—रथन्तर साप है जिसमें ऐसा ऋतु। इसी प्रकार ‘बृहत्साम यस्मिन् ऋतो गः बृहत्सामा ऋतुः’—बृहत्साम है जिसमें ऐसा ऋतु। इस प्रकार ये पद ऐसे ऋतुविशेष को कहते हैं, जिसमें ये ही दो साम प्रयुक्त हों। इसके अनुसार ज्योतिष्टोम ऐसा ऋतु न होने से वे रथन्तरसामा और बृहत्सामा नामक ऋतुविशेष ज्योतिष्टोम से भिन्न कर्म हैं,—यह ज्ञात होता है। ऐन्द्रवायव आदि ऋतुओं के अग्रतारूप गुण का ज्योतिष्टोम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जगत्सामा सोम को निःसन्दिग्ध कर्मान्तर माना गया है; उसकी समानता से इन दोनों को भी कर्मान्तर मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

यह कहना भी ठीक नहीं कि उक्त वाक्यों में कर्मान्तर का विधायक कोई पद नहीं है, तथा ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने से ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता एवं शुक्र-ग्रहाग्रता को ज्योतिष्टोम का गुण माना जाय।

कर्मान्तर का विधायक पद उक्त वाक्य में विद्यमान है। वाक्य है—‘यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्’। इसका ‘स्यात्’ लिङ् क्रियापदघटित प्रथम वाक्यांश कर्मान्तर का विधायक है। इसमें ‘यदि’ पद का प्रयोग कर्मान्तर के विधान में बाधक नहीं है। यदि पद की अविवक्षा करके शेष अवान्तर वाक्य ‘रथन्तरसामा सोमः स्यात्’ इसके कर्मान्तर होने का विधान करेगा।

अथवा, यहाँ लिङ् विभक्ति को हेतुहेतुमद्भाव (कार्य-कारण-भाव) अर्थ में माना जाता है, तो यह कहना होगा कि रथन्तरसामा सोम ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता का हेतु है, कारण है, तथा ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता कार्य है। इसके अनुसार ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता को रथन्तरसामा सोम (—ज्योतिष्टोम) का गुण मानना चाहिए। पर ज्योतिष्टोम के विषय में यह कार्य-कारण-भाव लागू नहीं होता। कारण है, ज्योतिष्टोम के तीन सवन हैं—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन। ग्रह-संज्ञक पात्रों में सोमरस का ग्रहण प्रातः सवन में किया जाता है, रथन्तरसाम का गान माध्यन्दिन सवन में होता है। यह कार्यकारणभाव का शीर्षासन ही जाता है, कार्य—ग्रहाग्रता पहले, और कारण—रथन्तरसाम बाद में। इस प्रकार यह लिङ् ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता को ज्योतिष्टोम का गुण बताने में असमर्थ रहता है। फलतः रथन्तरसाम और बृहत्साम को कर्मान्तर मानना उचित होगा।

ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने पर भी कर्मान्तर-विधिवाक्य बोधित है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, अतः इन्हें कर्मान्तर मानना युक्त है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

**एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं
गुणवाक्यत्वात् ॥२॥**

[तु] यह पद जिज्ञासा-निवारण का द्योतक है—रथन्तरसामा आदि कर्मान्तर नहीं हैं। वे [एकस्य] एक प्रकृतिवाग ज्योतिष्टोम का अङ्ग हैं। [लिङ्गभेदात्] रथन्तरसाम और बृहत्साम के निमित्तभेद से [प्रयोजनार्थम्] ग्रहपात्रों के अग्रता-विशेष—विधानरूप प्रयोजन के लिए [उच्येत] 'यदि रथन्तरसामा' आदि वाक्य—कहे गये समझने चाहिएँ। अतः [एकत्वम्] कर्म का एकत्व है, रथन्तर-सामा आदि ज्योतिष्टोम से अतिरिक्त कर्म नहीं हैं, उसी का अङ्ग हैं। [गुणवाक्य-त्वात्] ग्रहाग्रतारूप विशेष गुण के विधायक वाक्य होने से।

रथन्तरसामा, बृहत्सामा पद ज्योतिष्टोम का ही कथन करते हैं। रथन्तर-सामा है जिस क्रतु में और बृहत्सामा है जिस क्रतु में—इस बहुव्रीहि समास के अनुसार वह क्रतु ज्योतिष्टोम ही है। उसी के ये विशेषण पद हैं। जैसा वाक्य में निर्देश है—'रथन्तरसामा सोमः, बृहत्सामा सोमः' ज्योतिष्टोम प्रसंग में इनका कथन विशेष प्रयोजन के लिए हुआ है। वह प्रयोजन है—किस सामगानवाले ज्योतिष्टोम के अवसर पर कौन-सा ग्रह-संज्ञक पात्र सोमरस से प्रथम भरा जाय—यह बताना। ग्रहपात्र में सोमरस भरने के प्राथम्य का निमित्त (लिङ्ग) रथन्तर-सामगान और बृहत्सामगान हैं। जिस ज्योतिष्टोम में रथन्तरसाम गाया जाता है, मले ही वह माध्यन्दिन सबन में गाया जाय, उस ज्योतिष्टोम में ऐन्द्रवायव-ग्रहपात्र सबसे पहले सोमरस से भरा जाता है, यद्यपि उसके भरे जाने का समय प्रातः सबन है। याज्ञिकों को यह मालूम रहता है कि माध्यन्दिन सबन में कौन-सा सामगान होना है, उसी के अनुसार प्रातः सबन में विशिष्ट देवतावाले ग्रहपात्र में सोमरस भरे जाने की प्राथमिकता निर्धारित होती है। सामगान कोई वस्तुसत् पदार्थ नहीं है। क्रियाओं या भावनाओं में उनकी जानकारी के आधार पर कार्य-कारणभाव की कल्पना में कोई बाधा नहीं रहती।

वस्तुसत् पदार्थों के कार्यकारणभाव में भी यह देखा जाता है। वर्षा कृषि का कारण है। भविष्यत् में होनेवाली वर्षा की सम्भावित जानकारी के आधार पर कृषक कृषिवपन आदि कार्य को पहले कर देता है। ऐसा ही प्रस्तुत प्रसंग में समझना चाहिए।

'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्' वाक्य में 'यदि' पद की अविश्वसा कर शेष वाक्यांश को विधिवाक्य बताना सर्वथा-अयुक्त है। वाक्य में लिङ् प्रयोग 'यदि'

के योग में है^१। 'यदि' पद स्थिति की अनवकल्पता = असम्भावनामूलक अपूर्णता को बतलाता है। रथन्तरसामवाला ज्योतिष्टोम पूर्ण ज्योतिष्टोम नहीं है। ज्योतिष्टोम के विस्तृत क्षेत्र में से उसके एक अंश (रथन्तरसामवाले) को 'यदि' पद सीमित करता है। अनेक सामगानवाले ज्योतिष्टोम में ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता तभी होगी, जब उसमें रथन्तर सामगान हो; 'यदि' पद की अविवक्षा कर देने पर वाक्य का यह वास्तविक अर्थ अभिव्यक्त नहीं हो पाएगा। अतः वाक्य के आधार पर कर्मान्तर की कल्पना करना नितान्त निराधार है। फलस्वरूप ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पठित होने तथा सन्दर्भ में 'सोमः' (=ज्योतिष्टोमः) का विशेषण होने से रथन्तरसाम और बृहत्साम ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं, इन पदों से ज्योतिष्टोम का ही कथन होता है। अतः यह एक याग है, कर्मान्तर नहीं।

जगत्साम के अतिरिक्त कर्म होने से, उसके साथ समानरूप में पठित रथन्तरसाम और बृहत्साम को भी अतिरिक्त कर्म मानना चाहिए,—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोम के अङ्गरूप होने में जगत्साम के असम्भव होने से वह कर्मान्तर हो सकता है। असम्भावना का कारण यही है कि प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में जगत्साम का साक्षात् विधान नहीं है। ज्योतिष्टोम में जगत्साम के लिए समस्त सामवेद में कोई ऋक् नहीं कही है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'यदि जगत्साम' वाक्य विकृतिरूप कर्मान्तर का विधायक है। यह स्वयं सूत्रकार ने आगे [१०।१।१५] सूत्र में बताया है। इसलिए उक्तगी समानता रथन्तरसाम और बृहत्साम में नहीं कही जा सकती ॥२॥ (इति ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१)।

(अवेष्टेः ऋत्वन्तरताधिकरणम्—२)

वापस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।८।१] में पाठ है—'राजा स्वर्गकामो^२ राजसूयेन यजेत।' स्वाराज्य (पूर्ण स्वतन्त्रक अथवा परतन्त्रता का अभाव) की कामनावाला राजा राजसूय से यजन करे। राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ कर आगे राजसूय के अन्तर्गत अवेष्टि नामक कतिपय इष्टि इस प्रकार उल्लिखित हैं—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, हिरण्यं दक्षिणा १; ऐन्द्रमेकादशकपालम्, ऋषभो दक्षिणा २;

१. द्रष्टव्य—पाणिनि सूत्र [३।३।१४७] पर वार्तिक 'जातु यदोलिङ् विधाने यदायद्यौरूपसंख्यानम्' अनवकल्पति और अगर्थ अर्थ अनुवृत्त है। अवकल्पति—सम्भावना, सम्भाव्यता, उपयोगिता। असम्भाव्य एवं अनुपयोगी दूर हो जाता है, स्थिति के लिए उपयोगी रह जाता है,—इस अर्थ के परिप्रेक्ष्य में 'यदि' पद स्थिति को सीमित करता है।

२. 'स्वाराज्यकामः' शाबरभाष्य।

वैश्वदेवं चरुम्, पिशङ्गी पृष्ठीही दक्षिणा ३; मंत्रावरुणीमामिक्षाम्, वशा दक्षिणा ४; बार्हस्पत्यं चरुम्, सितिपृष्ठो दक्षिणा ५ ।

इस अवेष्टि नामक इष्टि में पांच याग हैं— आग्नेय, ऐन्द्र, वैश्वदेव, मंत्रावरुण, बार्हस्पत्य । इनकी पांच हवि और दक्षिणा पृथक्-पृथक् हैं । उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

याग	हवि	दक्षिणा
आग्नेय	अष्टाकपाल पुरोडाश	हिरण्य (सुवर्ण)
ऐन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश	ऋषभ (बैल)
वैश्वदेव	चरु	ललाई लिये भूरे रंग की पठोरी गाय, गोरी पहली ग्याभन गाय
मंत्रावरुण	आमिक्षा	वशा (बन्ध्या गाय)
बार्हस्पत्य	चरु	सितिपृष्ठ (?) मोर, हंस अथवा रतनाल या मनाल नामक पक्षी जो ठण्डे पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है ।

अवेष्टि के प्रसंग में आगे विधान है—‘यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आहुतिमाहुतिं हुत्वा अभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यां वैश्वदेवम्’—यदि ब्राह्मण यजन करे, तो बार्हस्पत्य हवि (चरु) को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की प्रत्येक आहुति देने के पश्चात् उसका (बार्हस्पत्य चरु का) आधारण करे; यदि राजन्य (क्षत्रिय) यजन करे, तो ऐन्द्र हवि को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की आहुति के पश्चात् उसका आधारण करे; यदि वैश्य यजन करे, तो वैश्वदेव हवि को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की आहुति देने के पश्चात् उसका आधारण करे ।^१

१. वर्ण के अनुसार वेदि पर हवियों के रखने का विशेष क्रम है—

ब्राह्मण हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—ऐन्द्र, पश्चिम—वैश्वदेव, उत्तर—मंत्रावरुण, मध्य—बार्हस्पत्य ।

राजन्य हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—वैश्वदेव, पश्चिम—मंत्रावरुण, उत्तर—बार्हस्पत्य, मध्य—ऐन्द्र ।

वैश्य हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—ऐन्द्र, पश्चिम—मंत्रावरुण, उत्तर—बार्हस्पत्य, मध्य—वैश्वदेव ।

वर्णानुसार जिस क्रम से वेदि पर हवि रखी गई हैं, उसी क्रम से उनकी आहुतिमां दी जाती हैं ।

इस प्रसंग में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्य राजसूय याग के अन्तर्गत ब्राह्मणादि वर्णों का निर्देश—तदनुसार हवि-विशेष को वेद के मध्य में रखे जाने रूप गुण के विधायक हैं? अथवा ये अपूर्व-विधि हैं? अर्थात् राजसूय से असम्बद्ध स्वतन्त्र याग हैं?

प्रतीत होता है, गत अधिकरण में जिस प्रकार 'यदि रथन्तरकामा स्तोमः स्यात्' इत्यादि वाक्यों को ज्योतिष्टोम का अङ्ग माना गया है, उसी प्रकार 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों को राजसूय का अङ्ग मानना चाहिए। राजसूय में ब्राह्मण आदि वर्णानुसार हविविशेष को वेद के मध्य रखे जाने रूप गुण का—ये वाक्य—विधान करते हैं। अतः गुणविधि होने से राजसूय के अङ्ग हैं, अपूर्वविधि नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् ऋतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

[अवेष्टौ] अवेष्टि नामक इष्टि में [यज्ञसंयोगात्] राजा का यज्ञ (राजसूय) के साथ संयोग-सम्बन्ध अर्थात् अधिकार होने से, 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों में ब्राह्मण आदि का श्रवण इनके [ऋतुप्रधानम्] प्रधान-ऋतु अपूर्वविधि होने को [उच्यते] प्रकट करता है।

अवेष्टिसंज्ञक इष्टि राजसूय ऋतु का अङ्गभूत कर्म है। 'राजा राजसूयेन यजेत' विधान के अनुसार राजसूय यज्ञ करने का केवल राजा को अधिकार है। इस वाक्य में 'राजन्' पद क्षत्रिय-वर्णविशेष का वाचक है। यद्यपि लोक में वह व्यक्ति भी राजा कहा जाता है, जो प्रजा का परिरक्षण व प्रशासन करता है, पर क्षत्रिय वर्ण का नहीं होता; ऐसे व्यक्ति को राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं माना गया। यदि क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति प्रजापालन अथवा प्रशासन न भी करता हो, उसे राजसूय यज्ञ करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। इसलिए लोक में क्षत्रिय से अतिरिक्त वर्ण के व्यक्ति के लिए राजा शब्द का प्रयोग नैमित्तिक होने से औपचारिक है, गौण है। इस कारण 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों से बोधित कर्म राजसूय याग में गुणविशेष का विधायक न होकर कर्मान्तर है, यह निश्चित होता है। इसके विपरीत यदि इन्हें गुणविधि माना जाय, तो ब्राह्मण आदि द्वारा अनुष्ठान किए जाने का विधान असंगत होगा, तथा राजसूय विधान के विरुद्ध भी।

✓ 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों में भी ब्राह्मण आदि पद वर्णविशेष के ही वाचक हैं। 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' आदि के सदृश निर्वचन के आधार पर इनका अर्थ करना संगत न होगा, क्योंकि उस अवस्था में धृष्ट सब विधान ही निराधार हो जायगा। फलतः केवल क्षत्रिय द्वारा अनुष्ठेय राजसूय यज्ञ से इन कर्मों ('यदि

ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यबोधित) को भिन्न कर्म मानना उचित है ।^१ मत अधिकरण के वाक्यों के साथ प्रस्तुत अधिकरण के विचारणीय वाक्यों की समानता—दोनों जगह के वाक्यों में 'यदि' पद के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । उभयत्र 'यदि' पद का प्रयोग केवल औपपातिक है, ऊपरी बात है; सैद्धांतिक चर्चा के लिए वह कोई सबल आधार नहीं है ॥३॥ (इति अवेष्टेः क्तवन्तरताऽधिकरणम्—२) ।

तृत्तरीय ब्राह्मण [१।१।२] में पाठ है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत ।'—वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय आधान करे, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करे । इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये वाक्य ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके अग्न्याधान के लिए वसन्त आदि कालविशेष के विधायक हैं ? अथवा ब्राह्मणादिकर्तृक वसन्तादि कालविशेष-युक्त अग्न्याधान के विधायक हैं ?

वाक्यों से दोनों बातें प्राप्त होती हैं । जब ब्राह्मण आदि पदों के सहोच्चरित ऋतुवाचक पदों के साथ ब्राह्मणादि पदों के सम्बन्ध को महत्त्व दिया जाता है, तब ये वाक्य ब्राह्मणादि-निमित्त से कालविशेष के विधायक हैं, ऐसा ज्ञात होता है । परन्तु जब ब्राह्मण आदि पदों का 'आदधीत' क्रियापद के साथ सम्बन्ध को महत्त्व दिया जाता है, तो ये पद अग्न्याधान के विधायक हैं, ऐसा ज्ञात है ।

इनमें पहला पक्ष उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि पदों की यह स्थिति अविदित अर्थ का बोध कराती है । अग्नि का आधान तो, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, दशपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादि वाक्यों से प्रथम प्राप्त है । अग्नि के बिना ये अनुष्ठान सम्पन्न नहीं किए जा सकते; इन अनुष्ठानों का विधान अग्नि की स्थापना का आपादक है । इसलिए अग्न्याधान अप्राप्त नहीं है । पर ब्राह्मणादि द्वारा कर्मानुष्ठान के लिए काल अविदित है, उसका विधान आवश्यक है ।

इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि आधान अग्नि की प्राप्ति के लिए किया जाता है, पर यह आवश्यक नहीं कि अग्नि आधान से ही प्राप्त हो । उसकी प्राप्ति अन्य उपायों से सम्भव है । अन्य से मांगकर लाई जा सकती है । लोक में यह व्यवहार सर्वत्र देखा जाता है । यज्ञोपयोगी अन्य द्रव्यों के समान अग्नि को क्रय करके प्राप्त किया जा सकता है । इसलिए अग्नि-प्राप्ति के लिए आधान कोई

१. प्रस्तुत प्रसंग में ब्राह्मण आदि व्यक्ति वही माना गया है, जिसने ब्राह्मण वंश में जन्म लिया हो । नैमित्तिक ब्राह्मण आदि के लिये केवल एक निदिष्ट कर्म को छोड़कर अन्य सब प्रकार के अनुष्ठानों का अधिकार अधुण्य रहता है ।

अनिवार्य साधन नहीं है। फलतः उक्त वाक्यों को वसन्तादि कालविशेष का विधायक मानना उपयुक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥४॥

[आधाने] आधान के विषय में पढ़े गए 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्य अग्न्याधान के प्रतिपादक हैं। [असर्वशेषत्वात्] अग्न्याधान के—सब कर्मों के प्रति शेष = अङ्ग न होने से।

सूत्र के हेतु पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—केवल इतना कहना कुछ अटपटा लगता है कि अग्नि अथवा अग्नि का आधान सब कर्मों का शेष नहीं है। 'शेष' पद 'अङ्ग' अर्थ में प्रयुक्त होता है। अग्नि तो सब कर्मों का अङ्ग है; क्योंकि उसके बिना कोई यागानुष्ठान सम्पन्न नहीं होता। तब उसे सब कर्मों का अङ्ग न कहना, युक्त प्रतीत नहीं होता। इस हेतु पद का वास्तविक अर्थ है—एक अनुष्ठाता व्यक्ति के द्वारा आधान किए गए अग्नि में—अन्य अनुष्ठाता द्वारा अनुष्ठेय कर्म—नहीं किए जा सकते। प्रत्येक कर्मानुष्ठाता के लिए आवश्यक है कि वह स्वानुष्ठेय कर्मों के लिए स्वयं अग्नि का आधान करे। यह तथ्य उक्त वाक्यों में आत्मनेपदी 'आदधीत' क्रियापद से अभिव्यक्त होता है। किसी क्रिया के अनुष्ठान का फल उस क्रिया के अनुष्ठाता को ही प्राप्त हो, तभी वह क्रियापद आत्मनेपद में प्रयुक्त हो सकता है। तात्पर्य है, एक व्यक्ति के द्वारा किया गया अग्न्याधान उसी के अपने कर्मानुष्ठान के लिए होता है, अन्य के लिए नहीं। अतः अग्नि की प्राप्ति याचना अथवा क्रय आदि अन्य उपाय से करना सर्वथा अज्ञास्त्रीय है।

'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्यों का मुख्य तात्पर्य अग्नि के आधान में ही है। ये वाक्य ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए कालविशिष्ट अग्न्याधान का विधान करते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों से अग्नि का सम्बन्ध तो जात होता है, पर उससे अग्नि के आधानरूप अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। उसका विधान उक्त वाक्यों से किया गया है। अन्य उपायों से प्राप्त अग्नि में किया गया अनुष्ठान निष्फल है। फलतः अग्न्याधान के उक्त वाक्य विधायकवाक्य हैं, यह स्पष्ट होता है ॥४॥ (इति अग्न्याधानस्य विधेयत्वाऽधिकरणम्—३)।

(दाक्षायणादीनां गुणताऽधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास यागों का प्रकरण प्रारम्भ कर वैदिक वाङ्मय में पाठ है—

‘दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः’^१; साकम्प्रस्थायीयेन^२ यजेत पशुकामः, संक्रम-
यज्ञेन यजेत अन्नाद्यकामः ।’—प्रजा की कामनावाला व्यक्ति दाक्षायण यज्ञ से
यजन करे, पशु की कामनावाला साकम्प्रस्थायीय से यजन करे, अन्नाद्य की
कामनावाला संक्रम यज्ञ से यजन करे। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा
करता है—क्या ये वाक्य दर्श-पौर्णमास यागों में ही दाक्षायण आदि निमित्त से फल
का निर्देश कर प्रकृत यागों के गुणविधि हैं? अथवा इन नामोंवाले ये कर्मान्तर
हैं? दर्श-पौर्णमास के प्रकरण में पठित होने पर भी भिन्न नाम तथा इसी प्रकार
के अन्य कारणों से ये कर्मान्तर प्रतीत होते हैं। आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम कति-
पय सूत्रों द्वारा शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

[अयनेषु] ‘अयन’-संज्ञक इन वाक्यों में [चोदनान्तरम्] भिन्न कर्म का
विधान है, [संज्ञोपबन्धात्] संज्ञा = विशिष्ट नाम से इनका निर्देश होने के
कारण। तात्पर्य है, दर्श-पौर्णमास के प्रकरण में पठित होने पर भी ‘दाक्षायण’
आदि नाम दर्श-पौर्णमास के नहीं हैं, अतः ये कर्म दर्श-पौर्णमास से भिन्न हैं।

सूत्रकार ने इन वाक्यों का निर्देश ‘अयन’ पद से किया है। प्रथम वाक्य
‘दाक्षायण’ में ‘अयन’ पद आया है। एक वाक्य के ‘अयन’ पद-युक्त होने से साथ
में पठित अन्य वाक्यों को भी यह नाम दे दिया गया। लोक में ऐसा व्यवहार
देखा जाता है। चार-पाँच व्यक्ति एकसाथ इकट्ठे जा रहे हैं, उनमें से केवल एक
ने छतरी लगा रखी है। सभीप से देखनेवाले व्यक्ति उनके विषय में बोलते
हैं—देखो, ये छतरीवाले जा रहे हैं। एक ही छतरी से—इकट्ठे साथ रहने के
कारण सभी छतरीवाले कहे जाते हैं। इसी प्रकार एक नाम में ‘अयन’ पद आने
से—साथ पठित—सभी वाक्य ‘अयन’ नाम से कह दिए गए हैं। इसी कारण
सूत्रकार ने सूत्र में ‘अयनेषु’ बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया है। दाक्षायण
आदि नाम दर्श-पौर्णमास के न होने से स्पष्ट होता है, ये कर्म उनसे भिन्न
हैं ॥५॥

कर्मान्तर होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

१. ‘प्रजाकामः’ के स्थान पर ‘सुवर्गकामः’ पाठ है, तै० सं०, २।१।१॥

२. द्रष्टव्य—तै० सं०, २।१।४॥ शां० ब्रा०, ४।६ में ‘साकम्प्रस्थाय्य’ पाठ
उपलब्ध है।

अगुणाच्च' कर्मचोदना ॥६॥

[च] और [अगुणात्] किसी गुण का निर्देश न होने से [कर्मचोदना] अपूर्व कर्म के विधायक है, उक्त 'दाक्षायणयज्ञेन यजेत' आदि वाक्य ।

उक्त वाक्यों के साथ किसी गुण का कथन नहीं किया गया । यदि इन्हें कर्मान्तर का विधायक न माना जाय, तो इनका उपदेश अनर्थक होगा । यदि गुण की कल्पना किसी प्रकार की जाय, तो याग और गुण के सम्बन्ध को जानकर उसके अनुष्ठान का विधान माना जाय । पर गुणनिर्देश के अभाव में यहाँ याग-मात्र के अनुष्ठान का विधान ज्ञात होता है ॥६॥

उक्त वाक्यों को कर्मान्तर का विधायक मानने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥

[च] और [फले] प्रजा = सन्ततिरूप फल के निर्देश में [वाक्यम्] 'दाक्षायण' आदि वाक्य [समाप्तम्] समाप्त हो जाता है, पूरा हो जाता है; अतः उक्त वाक्यों को कर्मान्तर का विधायक मानना युक्त होगा ।

'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः' वाक्य फल के निर्देश के साथ पूरा हो जाता है । फल किसी कर्म-विशेष का सम्भव है । आगे भी प्रत्येक वाक्य फल-निर्देश पर पूर्ण होता है । अतः प्रजा, पशू और अन्नाद्य-फलों के उपायरूप में यहाँ 'दाक्षायण' आदि कर्मविशेषों का विधान है, यह निश्चित होता है ॥७॥

इस लम्बी हेतुपूर्ण जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार कतिपय अग्रिम सूत्रों से प्रस्तुत करता है—

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥

[वा] यह पद जिज्ञासा की निवृत्ति का सूचक है, अर्थात् 'दाक्षायण' आदि वाक्य कर्मान्तर के विधायक नहीं, प्रस्तुत [प्रकरणात्] दर्शपूर्णमास प्रकरण से पठित होने से [विकारः] उसी का विकृतिरूप कर्म है, अर्थात् उसी के गुणविशेष का विधायक है ।

दाक्षायण यज्ञ आदि प्रत्येक वाक्य दर्शपूर्णमास का विकार है, उसी के गुण-

१. रामेश्वर सूरि विरचित मुद्रोधिनी व्याख्या में 'अगुणा च' पाठ है । अर्थ में विशेष अन्तर नहीं । 'अगुण' पद हेतुरूप न रहकर 'कर्मचोदना' का विशेषण बन जाता है । [कर्मचोदना] कर्म का विधायक वाक्य [अगुणा] गुण-रहित है ।

विशेष का विधायक है। इनको गुणविधि मानने में प्रकरण का सामंजस्य भी बना रहता है ॥८॥

सूत्रकार ने उक्त वाक्यों को गुणविधि मानने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शानाच्च ॥९॥

[लिङ्गदर्शानात्] उक्त वाक्यों के विकार होने में लिङ्ग देखे जाने से [च] भी उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास की गुणविधि हैं, कर्मान्तर नहीं।

वैदिक वाङ्मय में पाठ है—‘त्रिंशत् वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। यदि दाक्षायणयाजी स्याद्, अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। अत्र ह्येव सा सम्पद् सम्पद्यते। द्वे हि पीर्णमास्यो यजेत द्वे अमावास्ये। अत्र ह्येव खलु सा सम्पद् भवति।’

‘दर्शपूर्णमास से तीस वर्ष यजन करे। यदि वह दाक्षायण यज्ञ करनेवाला हो, तो पन्द्रह वर्ष ही यजन करे। दाक्षायणयाजी पन्द्रह वर्ष के अनुष्ठान में ही उस सम्पदा को प्राप्त हो जाता है, जो तीस वर्ष में प्राप्त की जाती है; क्योंकि वह दो पीर्णमास प्रातः-सायं यजन करता है, और दो अमावास्य प्रातः-सायं।’ इस कथन का सामंजस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब दाक्षायण यज्ञ को दर्श-पीर्ण-मास का अंग माना जाय। दर्श-पीर्णमास याग का जो अनुष्ठान तीस वर्ष में होता है, वह दाक्षायणयाजी का—प्रत्येक पूर्णमासी और अमावास्य में दो-दो याग करने से पन्द्रह वर्ष में पूर्ण हो जाता है। यह कथन इस तथ्य को समझने में लिङ्ग—हेतु है कि दाक्षायण यज्ञ दर्श-पीर्णमास से भिन्न कर्म नहीं है ॥९॥

इनके नाम-निर्धारण पर जो इन्हें कर्मान्तर बताया, सूत्रकार उसका समाधान करता है—

गुणात् संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

[गुणात्] गुण से [संज्ञोपबन्धः] दाक्षायण आदि संज्ञा बाँधी गई है। तात्पर्य है, गुणविशेष के आधार पर इन नामों का निर्धारण किया गया है।

जिज्ञासा-प्रसंग में कहा गया था कि दाक्षायण आदि नाम दर्श-पीर्णमास के नहीं हैं, इसलिए इन्हें दर्श-पीर्णमास का अंग न मानकर कर्मान्तर मानना चाहिए, यह कथन ठीक नहीं है। दर्श-पीर्णमास के वे नाम किस आधार पर हैं, यह समझिये।

इनमें पहला नाम ‘दाक्षायण’ है। यह ‘दक्ष’ और ‘अयन’ इन दो पदों के मेल से बना है। दक्ष व्यक्तिविशेष का नाम है, ‘अयन’ का अर्थ गति या प्रवृत्ति है।

दक्ष व्यक्ति के द्वारा प्रवृत्त किये जाने के कारण इसका नाम दाक्षायण यज्ञ है ।

शांखायन ब्राह्मण [४।४] के दश-पौर्णमास प्रकरण में ऐसे कतिपय यज्ञों का वर्णन है । वहाँ ग्रन्थकार 'अथातो दाक्षायणयज्ञस्य' यह प्रारम्भ कर आगे कहता है—'दक्षो ह वै पार्वतिरेतेन यज्ञेनेष्ट्वा सर्वान् कामान् आपतत्'—पर्वत के अपत्य दक्ष ने इस यज्ञ से यजन करके सब अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त किया । इसी प्रकरण [४।६-८] में सावसेनि यज्ञ, शीनक यज्ञ, वासिष्ठ यज्ञ आदि कतिपय उन-उन ऋषियों एवं विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किये गये यज्ञों का वर्णन है । व्यक्ति-विशेष के अनुष्ठान द्वारा फल-निर्देशरूप गुण से संज्ञा का उपबन्ध है । यज्ञों के ये नाम उन व्यक्तिविशेषों के नामों पर आधारित हैं, जिन्होंने दश-पौर्णमास का अनुष्ठान कर अभीष्ट फल प्राप्त किया । प्रस्तुत प्रसंग में दश-पौर्णमास उस नाम से व्यवहृत हुए ।

'साकंप्रस्थाप्य' अथवा 'साकंप्रस्थाप्य' यज्ञ का नाम भी ऐसे ही गुण-विशेष के आधार पर है । शांखायन ब्राह्मण [४।६] में पाठ है—'तद्यत् साकं संप्रतिष्ठन्ते साकं संप्रयजन्ते साकं भक्षयन्ते, तस्मात् साकंप्रस्थाप्यः'—जो व्यक्ति इसी अमावास्या, इसी पूर्णमासी-कर्म में साथ ही इस कर्म का अनुष्ठान करते हैं, साथ ही यजन करते हैं, साथ ही यज्ञशेष का भक्षण करते हैं, इसी कारण यह यज्ञ साकंप्रस्थाप्य है । इससे स्पष्ट होता है, इस प्रसंग में दश-पौर्णमास याग का ही यह नाम है । इसी प्रकार 'संक्रम' यज्ञ नाम भी सम् = समान क्रम = अनुष्ठान-रूप अर्थ के अनुसार समझना चाहिए । तात्पर्य है, दश-पौर्णमास का यह नाम समान रूप से इन कर्मों का अनुष्ठान गुण के आधार पर है । फलतः प्रस्तुत प्रसंग में ये सब नाम दश-पौर्णमास के हैं, जो याग-सम्बद्ध किसी गुणविशेष के कारण प्रसिद्ध हुए, जिस गुण का विधान उक्त वाक्यों द्वारा हुआ है । फलतः इस नाम को कोई भिन्न (= दश-पौर्णमास से अतिरिक्त) कर्म नहीं है ॥१०॥

कर्मान्तर होने में वाक्य की समाप्ति अर्थात् निराकांक्ष होने का जो हेतु प्रस्तुत किया गया, सूत्रकार ने उसका समाधान किया—

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥

[समाप्तिः] फलनिर्देश पर वाक्य की समाप्ति = पूर्णता = निराकांक्षता, [अविशिष्टा] समान है, कर्मफल-सम्बन्ध और गुणफल-सम्बन्ध दोनों में ।

तात्पर्य है—फल का निर्देश होने पर वाक्य की पूर्णता दोनों अवस्थाओं में समान रहती है । चाहे कर्मविधि का फलनिर्देश हो, चाहे गुणविधि का, इसमें

१. द्रष्टव्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक-कृत—मीमांसा शाबर भाष्य का—हिन्दी विवरण । पृष्ठ ५५६ ।

कोई भेद नहीं होता। जिन गुणविधि-वाक्यों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, जैसे—‘दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्’—इन्द्रिय की कामनावाले का दधि से होम करे। यहाँ दधिरूप गुण से इन्द्रिय-फल का विधान है। ठीक इसी प्रकार ‘दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः’ आदि वाक्य हैं। दाक्षायण यज्ञ में दर्श-पूर्णमास की आवृत्तिरूप गुण का विधान है। यहाँ दर्श-पूर्णमास से अनुष्ठान करे, ऐसा न कहकर—प्रजा की कामनावाला आवृत्ति-यज्ञ का अनुष्ठान करे, ऐसा कहा है। यह आवृत्ति-गुण दर्श-पूर्णमास का ही है। अतः इस रूप में दाक्षायण-यज्ञ दर्श-पूर्णमास से भिन्न कर्म नहीं है। इसी प्रकार साकंप्रस्थाव्य में सह-प्रतिष्ठान आदि, तथा संक्रम यज्ञ में समान अनुष्ठान आदि गुण का विधान है। ये सब कर्मान्तर नहीं हैं ॥११॥ (इति दाक्षायणादीनां गुणताधिकरणम्—४)।

(द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताधिकरणम्—५)

कतिपय ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जो किसी कर्म-विशेष के प्रकरण में नहीं पढ़े गये; उनसे विहित गुण आदि का सम्बन्ध प्रकृतिवाग के साथ होता है (द्र० ३।६, अधि० १)। इसके अनुसार निम्नांकित कतिपय वाक्य हैं, जो किसी कर्म-विशेष का विधान न करके पढ़े गये हैं—‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः [तं० सं० २।१।१]। ‘ब्रह्मवर्चसकामः सौर्यं चरुं निर्वपेत्’ [तं० सं० २।३।२]। भूति—कल्याण चाहनेवाला व्यक्ति वायु देवतावाले श्वेत पशु का आलभन करे। ब्रह्मवर्चस की कामनावाला व्यक्ति सूर्य देवतावाले चरु का निर्वप करे।

इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है—‘ईषामालभेत’ ईषा का आलभन = स्पर्श करे। तथा ‘चतुरो मुष्टीन्निर्वपति’ चार मुट्ठी हवनीय द्रव्य का निर्वप करता है। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या दर्श-पूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वप यथाक्रम दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित आलम्भ और निर्वप के गुणविधि हैं? अथवा दर्श-पूर्णमास-प्रकृतिवाग की अपेक्षा नहीं रखते? अर्थात् वे भिन्न कर्म हैं? तथा जब प्रकृति-निरपेक्ष भिन्न कर्म हैं, तब भी क्या जितना कहा है, उतने ही में कर्म पूरा हो जाता है? अथवा ये यागवाले कर्म हैं?

प्रतीत होता है, प्रकरण में अपठित वाक्य ‘वायव्यं श्वेतं’ तथा ‘सौर्यं चरुं’ यथाक्रम प्रकरणपठित ‘ईषामालभेत’ तथा ‘चतुरो मुष्टीन्’ वाक्यों के गुणविधि

१. द्रष्टव्य—मंत्रा० सं०, २।२।२॥

२. द्रष्टव्य—उत्तरामीषामालभ्य जपति, आप० श्रौ० १।१७।७॥ मार० श्रौ० १।१६।६॥

३. द्रष्टव्य—चतुरो मुष्टीन् निरूप्य, आप० श्रौ० १।१६।२॥

हैं। क्योंकि विधिवाक्य वे होते हैं, जो अविदित अर्थ का कथन करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रकरणपठित वाक्यों से आलम्भ और निर्वाप विदित हैं। शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्ष-रूप से आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥

[अप्रकरणे] प्रकरण में अपठित वचन [अकर्मशब्दत्वात्] कर्मविधायक शब्द के वहाँ न होने से, वे वचन [संस्कारः] संस्कार कर्म [च] ही हैं; अर्थात् किसी विधिकर्म में संस्कारविशेष के विधायक होने से गुणविधि हैं।

दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अपठित 'वायव्यं श्वेतं' तथा 'सौर्यं चरुं' वाक्य विधिवाक्य नहीं हैं। आचार्यों ने बताया—'अज्ञातार्थबोधको विधिः' जो वाक्य अज्ञात अर्थ का बोध कराता है, वह विधिवाक्य है। इन वाक्यों में कोई ऐसा विधायक पद नहीं है, जो इनके विधिवाक्य होने का साधक हो। उक्त वाक्यों में 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पद भी अज्ञात अर्थ के बोधक नहीं हैं। यह आलम्भ और निर्वाप अर्थ-प्रकरण में पठित 'ईषामालभते' तथा 'चतुरो मुष्टीन्निर्वपति' वाक्यों से ज्ञात है। अतः प्रकरण में अपठित उक्त वाक्य उसी का अनुवाद कर उनमें संस्कार-विशेष का विधान करते हैं।

प्रकरणपठित 'ईषामालभते' का अर्थ है—ईषा का आलम्भ = स्पर्श करता है। पूर्वाभिमुख खड़े द्रव्याहरण-शकट के अग्रभाग को ऊँचा (पिछले भाग के समान स्तर में) रखने के लिए जुए की सन्धि के समीप अग्रभाग में संयुक्त दो लम्बी स्निग्ध लकड़ियों या बाँसों की टेक का नाम 'ईषा' है, जिनमें एक उत्तर और दूसरी दक्षिण को रहती है। प्रकरण में अपठित पहला वाक्य (वायव्यं श्वेतं) इस (ईषा-सम्बन्धी) आलम्भ-कर्म में श्वेत गुण का तथा दूसरा (सौर्यं चरुं) वाक्य इस (चतुरो मुष्टीन्निर्वपति) निर्वाप-कर्म में चरु का विधान करने के लिए हैं, इसलिए 'वायव्यं श्वेतं' और 'सौर्यं चरुं' में अन्य आलम्भ और निर्वाप नहीं हैं। वे प्रकृतिप्राग दर्श-पूर्णमास में विहित आलम्भ और निर्वाप की गुणविधि हैं ॥१२॥

प्रथम जिज्ञासा में दूसरा विकल्प है, जब प्रकरण में अपठित वाक्य-प्रकरणस्थ आलम्भ-निर्वाप कर्म की अपेक्षा न करते हुए—भिन्न कर्म माने जाते हैं, तब भी क्या वाक्य से जितना कहा है—उतने ही में कर्म पूरा हो जाता है? अथवा निर्दिष्ट देवता के उद्देश्य से द्रव्य की आहुति भी उसमें दी जाती है? इस विषय में सूत्रकार ने कहा—

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद विकल्पान्तर का निर्देश करता हुआ पूर्वसूत्रोक्त अर्थ

का बाध करता है। [यावदुत्तमम्] वाक्य में जितना कहा है, उतना ही कर्तव्य है। [कर्मणः] कर्म के [श्रुतिमूलत्वात्] श्रुतिमूलक होने से; श्रुति जितना कहती है, उतने ही में वह कर्म पूरा सम्पन्न हुआ समझना चाहिए।

दर्शपूर्ण के प्रकरण में अपठित आलम्भ (वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः) तथा निर्वाप (सौर्यं चरं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः) प्रकरणपठित आलम्भ (ईषामालभते), तथा निर्वाप (चतुरो मुष्टीन् निर्वपति) के अनुवाद नहीं हैं। प्रकरणपठित इन आलम्भ तथा निर्वाप से वे आलम्भ-निर्वाप भिन्न हैं; इस प्रकरण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

कतिपय कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें—जितना विधान किया है, उतना ही कर्तव्य कर्म होता है, इनमें प्रकृतियाग से धर्मों का अतिदेश नहीं होता। उसी के समान 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' वाक्य से विहित कर्म, पशु के आलम्भ-पर्यन्त ही है। इसी प्रकार 'सौर्यं चरं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' वाक्य से विहित कर्म ब्रीहिके निर्वाप तक पूरा हो जाता है। तात्पर्य है, इन हविद्रव्यों से याग नहीं होता। यह द्वितीय जिज्ञासा का प्रथम अंश है। द्वितीय अंश का तात्पर्य है—'वायव्यं श्वेतं' वाक्य में श्वेत पशु का वायु देवता के साथ, और 'सौर्यं चरं' वाक्य में चर द्रव्य का सूर्य देवता के साथ सम्बन्ध जाना जाता है। इसलिए जब तक इन द्रव्यों से वायु और सूर्य देवता के लिए याग = द्रव्य-त्याग नहीं करेंगे, तब तक द्रव्य-देवता का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होगा। अतः प्रतीयमान द्रव्य-देवता सम्बन्ध की उपपत्ति के लिए याग आवश्यक है। इस प्रकार द्वितीय जिज्ञासा का रूप होता है—यदि प्रकरण में अपठित वाक्य भिन्न कर्म हैं, तो क्या जितना विधान उनसे किया गया उतना ही वह कर्म है? अर्थात् उतने ही में वह पूर्ण हो जाता है? अथवा वहाँ कहे गये द्रव्य से याग भी किया जाता है? इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से किया—जितना वाक्य से कहा गया, उतना ही वह कर्म कर्तव्य है; क्योंकि कर्म का स्वरूप श्रुति के अनुसार जाना जाता है। इसलिए प्रकरण में अपठित वाक्य, प्रकरणपठित वाक्यों के अनुवादक न होकर स्वतन्त्र कर्म हैं, और वे उतने ही हैं, जितने वाक्यों द्वारा कहे गए। वहाँ कहे गए द्रव्यों से याग नहीं होता।

यदि 'वायव्यं श्वेतं' और 'सौर्यं चरं' को अपूर्वविधि न मानकर दर्शपूर्णमास-स्थित आलम्भ-निर्वाप का अनुवादक माना जाता है, तो वाक्यभेद होता है। प्रथम प्रकरण में अपठित वाक्य प्रकरणपठित आलम्भ-निर्वाप को लक्षित करेंगे। फिर आलम्भ में श्वेतगुण और निर्वाप में चर द्रव्य का विधान करेंगे। अनन्तर आलम्भ में भूति के लिए वायुदेवता और निर्वाप में ब्रह्मवर्चस के लिए सूर्य देवता को प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार का वाक्यभेद शास्त्र में दोषावह माना जाता है। अतः दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ-निर्वाप को अपूर्वविधि मानना

युक्त होगा।

यदि वाक्यभेद की उपेक्षा की जाय, तो भी उन वाक्यों को अनुवाद नहीं माना जा सकता। 'आलम्भेत्' और 'निर्वपेत्' पद यदि दर्शपूर्णमासस्थित आलम्भ-निर्वाप को लक्षित करते हैं, तो विधायक नहीं हो सकते। एक ही पद लक्षण और विधान दोनों को नहीं कह सकता। एक पद एक अर्थ को कहकर चरितार्थ हो जाता है; अन्य अर्थ के कहने में वह असमर्थ रहता है। यदि धात्वर्थ—आलम्भ-निर्वाप को अनुवाद मानें, और 'लिङ्' प्रत्यय को विधायक मानें, तो 'जो आलम्भ करना है, वह इस (श्वेत) गुणवाला किया जाय' ऐसा कहने पर दर्श-पूर्णमासस्थ आलम्भ लक्षित नहीं होगा, क्योंकि प्रथम कहा जा चुका है—आलम्भ उससे अतिरिक्त लौकिक भी है। प्रत्ययार्थ (=आलम्भः कर्तव्यः) के अनुबन्धमान होने पर दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ अनूदित हो सकेगा; क्योंकि [ईषामालभेत-वचनानुसार] कर्तव्यरूप से वही ज्ञात है; लौकिक आलम्भ ज्ञात नहीं है। इस कारण दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ और निर्वाप का अनुवाद है—प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप, यह उपपन्न नहीं होता। इसलिए वहाँ जितना कहा है [—यावदुक्तम्] आलम्भमात्र और निर्वापमात्र, उतना ही अपूर्वविधि समझना चाहिए। वही श्रुतिमूलक है। फलतः दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप कर्मान्तर हैं ॥१३॥

पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत उभयविध-विकल्प की जिज्ञासा का सूत्रकार समाधान करता है—

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥

[तु] यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है। तात्पर्य है—दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप यावदुक्त कर्म नहीं हैं, प्रत्युत [यजतिः] याग है, [द्रव्यफल-भोक्तृसंयोगात्] द्रव्य (—श्वेतपशु, चरु) फल (—भूति, ब्रह्मवर्चस), भोक्ता (—भूतिकाम, ब्रह्मवर्चसकाम) का संयोग होने से [एतेषाम्] इन द्रव्य, फल और भोक्ता के [कर्मसम्बन्धात्] याग-कर्म के साथ सम्बन्ध होने से।

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' तथा 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' वाक्य प्रकरणपठित आलम्भ (ईषामालभते) तथा निर्वाप (चतुरो मुष्टीन्निर्वपति) के गुणविधि नहीं हैं,—यह सर्वथा युक्त है। परन्तु साथ ही जो यह कहा गया कि ये वाक्य यावदुक्त हैं, अर्थात् आलम्भ-मात्र और निर्वापमात्र का विधान करते हैं, द्रव्ययाग का विधान नहीं करते,—यह कथन युक्त नहीं है। सूत्रकार कहता है, ये याग हैं; द्रव्य-त्यागपूर्वक आहुति दिए जाने का ये विधान करते हैं।

कारण यह है कि इन वाक्यों में द्रव्य, देवता, फल, भोवता का निर्देश है। ये सब इन आलम्भ-निर्वाप के पूर्ण याग होने के प्रयोजक हैं। यद्यपि सूत्र में 'देवता' पद का उल्लेख नहीं, पर याग के स्वरूप में द्रव्य-देवता का नियत सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए सूत्र में 'द्रव्य' पद के निर्देश से देवता का भी ग्रहण समझना चाहिए। फलतः द्रव्य, देवता, यागानुष्ठान का फल और अनुष्ठाता का उक्त वाक्यों में स्पष्ट निर्देश होने से ये याग के विधायक हैं, आलम्भमात्र एवं निर्वाप-मात्र के नहीं।

आलम्भ-वाक्य में वायु देवता का, श्वेत पशु द्रव्य का, भूति फल का और 'आलभेत' पद से यागानुष्ठाता पुरुष के प्रयत्न का स्पष्ट निर्देश है। इसी प्रकार निर्वाप-वाक्य में सूर्य देवता, चरु द्रव्य, ब्रह्मवर्चस फल, एवं 'निर्वपेत्' पद से अनुष्ठाता पुरुष के प्रयत्न का स्पष्ट उल्लेख है। ये याग के प्रयोजक होने से उक्त वाक्य कर्मान्तर के विधायक हैं, यह निश्चित होता है। ✓

इन वाक्यों में द्रव्य, देवता अथवा गुण के आधार पर वाक्यभेद की आशंका करना निराधार होगा, क्योंकि इन वाक्यों में प्रत्येक पद एक-दूसरे के प्रति आकांक्षा रखता है। वाक्य के पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए किसी पद में औदासीन्य दिखाई नहीं देता, प्रत्येक पद अहमहमिक्या अर्थाभिव्यक्ति के लिए दौड़ता-सा दिखाई दे रहा है। भूति की कामनावाला पुरुष वायुदेवतासम्बद्ध श्वेत पशु का आलमन करे, यह पूरा एक अर्थ वाक्य से अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार निर्वाप-वाक्य में समझना चाहिए। ब्रह्मवर्चस फल की कामनावाला पुरुष सूर्यदेवतासम्बद्ध चरु द्रव्य का निर्वाप करे, यह एक अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार इन वाक्यों की अपने-आप में एकार्थता स्पष्ट है। देवता के लिए द्रव्य का संकल्प याग के बिना उपपन्न नहीं होता, यह व्यवस्था निश्चायक है कि प्रस्तुत आलम्भ और निर्वाप यागरूप कर्म हैं ॥१४॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

[लिङ्गदर्शनात्] उक्त अर्थ के उपपादन में अन्य प्रयोजक हेतु के देखे जाने से [च] भी, प्रकृत आलम्भ-निर्वाप-वाक्यों में कथित विधि यागरूप हैं, ऐसा जाना जाता है।

अन्य प्रयोजक हेतु से भी यह जाना जाता है कि 'वायव्यं श्वेतम्' और 'सौर्यं चरुं' वाक्यों में 'आलभेत' तथा 'निर्वपेत्' पद-विहित आलम्भ और निर्वाप यागरूप कर्म हैं। तैत्तिरीय संहिता [२।२।१०] में पाठ है—'सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत्'—सोम और रुद्र देवतावाले चरु का निर्वाप करे। आगे पाठ है—'परिश्रिते वाजयति'—चारों ओर से धिरी वेदि में याग कराता है। यह परिश्रयण है। इस

इस पद का अर्थ है—चारों ओर से घिराव होना । तदनुसार इस परिश्रयण= घिरावरूप विधि—के वाक्य में 'यजति' पद से विधिकथन का सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब इसे यागरूप कर्म माना जाय । यदि इन्हें प्रकृतियाग में गुण का विधायक अथवा यावदुक्त कर्म माना जाता है, तो 'यजति' पद से उसका पुनः कथन उपपन्न नहीं होता; क्योंकि इन दोनों पक्षों से याग होगा ही नहीं । तब 'यजति' पद का प्रयोग क्या प्रमादपाठ ही कहा जायगा ? अतः यह निश्चित जाना जाता है—'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पद-घटित कर्म यागरूप हैं; गुणविधि या यावदुक्त कर्म नहीं ॥१५॥ (इति द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरस्ता-दधिकरणम्—५) ।

(वत्सालम्भादीनां संस्कारतादधिकरणम्—६)

मैत्रायणी संहिता [१।५।६] के अग्निहोत्र प्रकरणान्तर्गत गोदोहन-प्रसंग में वाक्य है—'वत्समालभते, वत्सनिक्तान्ता हि पशवः'—बछड़े का स्पर्श करता है, निश्चय ही पशु वत्सप्रिय होते हैं । शिष्य जिज्ञासा करता है—यह वत्सालम्भ गत प्रकरण के समान क्या यागरूप है ? अथवा संस्कारमात्र है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

[विशये]—अग्निहोत्र-प्रसंग में श्रुत 'वत्समालभते' यह आलम्भ, 'वायव्यं श्वेतमालभेत' के समान यागरूप है । यः संस्कारकर्म है, यह—संशय होने पर, समाधान किया—[प्रायदर्शनात्] गोदोहन आदि संस्कारप्राय कर्मों के मध्य 'वत्समालभते' का दर्शन पाठ होने से यह संस्कारकर्म है । तात्पर्य है—इस अवसर पर वत्स का स्पर्शमात्र संस्कार अभीष्ट है ।

यागकर्म में देवता का निर्देश आवश्यक है । प्रस्तुत प्रसंग में देवता का ध्वणन होने से यह यागकर्म नहीं । इसका (वत्सालम्भ का) फल भी दृष्ट है । याग का फल अदृष्ट माना जाता है । अतः यह आलम्भ यागकर्म नहीं है; वत्स का संस्कार-मात्र है । गाय पशुओं को बछड़ा (या बछड़ी) बहुत प्यारे होते हैं । गोदोहन के समय बछड़े को सूँटे से खोलकर उसपर प्यार से हाथ फेरता हुआ गाय के नीचे धनों में लगाये । उस समय गाय गर्दन टेढ़ी करके बछड़े के पिछले हिस्से को बराबर चाटती रहती है । पुरुष को भी उसके पास बैठकर बछड़े पर प्यार से हाथ फेरते रहना चाहिए । इससे गाय जल्दी दूध उतारती है । जब गाय पसवा जाती है, और गोदोहन-कार्य प्रारम्भ होने को है, तब बछड़े को गाय के आगे बाँध दिया जाय, जिससे गाय उसे प्यार से चाटती रहे । यदि पुरुष पकड़कर बैठता है, तो वह भी प्यार से बछड़े पर हाथ फेरता रहे । इससे गाय प्रसन्न रहती है, गोदोहन

निर्वाध चलता रहता है। वत्स का यह आलभन उसका स्पर्शरूप संस्कार है। इस क्रिया से बछड़ा गाय का दूध उतारने में सहायक होता है ॥१६॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

[अर्थवादोपपत्तेः] अर्थवाद की उपपत्ति—समञ्जसता से [च] भी, 'वत्समालभते' वाक्यपठित आलभति क्रिया स्पर्शरूप संस्कारमात्र है, यह निश्चित होता है।

जहाँ 'वत्समालभते' कहा है उसी के साथ 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' यह अर्थवाद-वाक्य पठित है। प्रायः सभी पशु वत्सप्रिय होते हैं। वत्सप्रिय होने में गाय सबसे अधिक है। भैंस आदि का बच्चा मर जाय, तो साधारण उपाय से दूध निकाला जा सकता है। पुरुष आदि व्यक्ति के द्वारा भी भैंस सरलता से पसवा जाती है, पर गाय नहीं। ऐसा देखा जाता है कि गाय का बछड़ा मर जाने पर उसे पसवाने के लिए बछड़े की खाल में अन्य भूस आदि पदार्थ भरकर बछड़े की तरह उसे गाय के पास सड़ा कर दिया जाता है, उसे ही वह चाटती रहती है। इस अर्थवाद का सामञ्जस्य उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब 'आलभति' क्रिया का अर्थ स्पर्शमात्र संस्कार किया जाता है। वत्स का आलभन = मारना, अर्थवाद की भावना से नितान्त विपरीत है। इसलिए भी यहाँ आलम्भ = स्पर्शमात्र संस्कार है, यह निश्चित होता है ॥१७॥ (इति वत्सालम्भादीनां संस्कारताऽधि-करणम्—६)।

(नैवारचरोराधानार्थताऽधिकरणम्—७)

पञ्चम अधिकरण में 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' की यागरूपता सिद्ध की है। छठा अधिकरण उसका अपवाद है, जिसमें 'वत्समालभते' वाक्यगत आलम्भ का स्पर्शमात्र संस्कार सिद्ध किया गया है। तैत्तिरीय संहिता [५।६।२] के अग्नि-चयन प्रकरण में पाठ है, 'एतत् सलु वै साक्षादन्नं यदेव चरुः, यदेतं चरुमुपदधाति' इसी प्रसंग में आगे '...मध्यत उपदधाति...', 'बाहृस्पत्यो भवति'—यह साक्षात् अन्न है, जो यह चरु है, इस चरु का उपधान करता है, '...मध्य में उपधान करता है, '...यह चरु बृहस्पति देवतावाला है।

इस प्रसंग को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह नीवार धान्य से तैयार किया गया चरु याग के लिए है और याग से बचे चरु का उपधान बताता है? अथवा चरु के उपधानरूप संस्कारमात्र का विधायक है? प्रतीत होता है—याग के लिए चरु का विधान है और अवशिष्ट के उपधान का कथन है, क्योंकि चरु की यागार्थता सर्वत्र प्रसिद्ध है। किसी कर्म की यागरूपता के लिए द्रव्य और

देवता का निर्देश आवश्यक होता है। यहाँ प्रसंग के अन्त में अर्थवादरूप से बृहस्पति देवता का निर्देश है। अतः चरु द्रव्य और बृहस्पति देवता दोनों की उपस्थिति से—यह चरु यागार्थ है, अवशिष्ट चरु का उपधान कर दिया जाता है। इससे दोनों (याग और उपधान) का सामञ्जस्य हो जाता है; यह समझना चाहिए।

सूत्रकार आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥

[तु] पद चरु की यागार्थता के निवारण के लिए है; 'चरुमुपदधाति' वाक्य याग के लिए चरु का विधान नहीं करता। [अर्थशब्देन] 'उपदधाति' क्रिया के अर्थ उपधान से [संयुक्तः] संयुक्त है, सम्बद्ध है चरु पद; अतः [तदर्थः] उपधान के लिए है चरु; [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति 'उपदधाति' के साथ साक्षात् सम्बद्ध होने से चरु केवल उपधान के लिए जाना जाता है।

'उपधान' का अर्थ है—रखना। अग्निचयन के लिए इष्टका रक्खी जाती है, उन्हीं पर अग्निचयन होता है। नीवार जंगली धान्य है, इसे भाषा में नेर या कोदों भी कहते हैं। कोदों 'कदन्न' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। जंगल में—अथवा खेतों में बिना बोये—उत्पन्न हुए कई प्रकार के धान्य 'कदन्न' में गिने जाते हैं, उनमें एक नीवार है। इस प्रकार के अन्नो को अनेकत्र साहित्य में 'मुनियों का अन्न' कहा गया है। नीवार से तैयार किया गया चरु अग्निचयन-इष्टकाओं के मध्य रक्खा जाता है—'मध्यत उपदधाति'। यह चरु का संस्कारमात्र है। 'चरुमुप-दधाति' वाक्य में चरु का सम्बन्ध सीधा उपधान के साथ है। यहाँ 'यजति' का श्रवण नहीं है। उसकी कल्पना करना भी निराधार होगा; क्योंकि इससे साक्षात् 'चरुमुपदधाति' श्रुतिबोधित अर्थ की बाधा प्रसक्त होगी। अतः साक्षात् श्रुति के साम्मुख्य में कल्पना हेय होगी।

चरु की यागार्थता के लिए बृहस्पति देवता का चरु से सम्बन्ध बताना भी ग्राह्य नहीं है। संहिता में वह कथन केवल अर्थवाद है, चरु की प्रशंसा के लिए। वहाँ याग-निमित्त से द्रव्य-देवता के सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है। इस सब विवेचन के फलस्वरूप निश्चित होता है, उक्त वाक्य चरु के उपधानमात्र संस्कार का विधायक है; चरु की यागार्थता का विधान नहीं करता। फलतः छठा और सातवाँ अधिकरण पञ्चम अधिकरण के अपवाद हैं, यह समझना चाहिए ॥१८॥ (इति नीवारचरोपधानार्थताऽधिकरणम्—७)।

(त्वाष्ट्रपाल्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाऽधिरणम्—८)

पाल्नीवत^१ कर्मविशेष का नाम है। तैत्तिरीय संहिता [६।६।२, ६] में इसका विवरण उपलब्ध होता है। उस प्रसंग में इस आशय का लेख है—‘त्वाष्ट्रं पर्यग्निकृतं पाल्नीवतमुत्सृजन्ति’ पर्यग्निकरण संस्कार किए गये त्वष्ट्रा देवतावाले पशु को छोड़ते हैं। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या त्वष्ट्रा देवतावाले पर्यग्निकृत पशु के उत्सर्ग का यह विधान है ? अथवा त्वष्ट्र पशुयाग से यह पाल्नीवत-कर्म भिन्न याग है ?

सन्देह का कारण त्वष्ट्र पशु के दो विशेषण हैं—‘पर्यग्निकृतम्’ और ‘पाल्नीवतम्’। जब ‘उत्सृजन्ति’ क्रियापद से ‘पर्यग्निकृतम्’ पद सीधा सम्बद्ध किया जाय, तो यहाँ पशु के उत्सर्ग का विधान होगा। जब ‘पाल्नीवतम्’ पद क्रियापद से सीधा सम्बद्ध होता है, तब त्वष्ट्र पशुयाग से—यह पाल्नीवत कर्म—भिन्न याग है, ऐसा जाना जाता है। उस कर्म के अनन्तर उत्सर्ग होगा।

१. पाल्नीवत कर्म के विषय में आचार्यों के मतभेद का उल्लेख करते हुए मीमांसाशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने जो महत्त्वपूर्ण [पृ० ५७३-७४] टिप्पणी लिखी है, यह कर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक होने से अविकल उद्धृत है—

“आचार्यों के मतभेद का मूल—तै० सं० ६।६।६ के ‘इन्द्रः पत्निया मनुमयाजयत्, तां पर्यग्निवृत्तामुदसृजत्’ (= इन्द्र ने मनु को पत्नी से याग कराया, उस पत्नी को पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया)—इस परकृतिरूप अर्थवाद में निहित है। इसमें पत्नी का सम्बन्ध होने से यह कर्म पाल्नीवत हुआ। इसी के स्थान में त्वष्ट्र पशु के आलम्बन का विधान होने से तत्स्थानीय त्वष्ट्र पश्चालम्बन कर्म भी पाल्नीवत नाम से जाना जाता है। पत्नी से याग करने पर उसे जिस रूप से सम्बद्ध किया (= पास में बैठाया) उस रूप का नाम भी पाल्नीवत हुआ। त्वष्ट्र पशु के पत्नीस्थानीय होने से त्वष्ट्र पशु भी पाल्नीवत नाम से व्यवहृत हुआ। यतः मनु की पत्नी का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग किया गया, अतः तत्स्थानीय त्वष्ट्र पशु का भी उत्सर्ग होता है। तै० सं० निर्दिष्ट वचन अर्थवाद है। अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति (अर्थवाद-वचनों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता है)—इस गोमांसक सिद्धान्त से—इन्द्र ने मनु को उसकी पत्नी से याग कराया था—यह प्रतीयमान अर्थ प्रमाणभूत नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि—

वैवस्वत मनु इस पृथिवी का प्रथम शासक हुआ था। राजा पृथिवी का पालक होने से पृथिवीपति कहाता है और पृथिवी राजा की पालिका

प्रतीत होता है, पालीवत कर्म त्वाष्ट्र पशुपाग से भिन्न है, क्योंकि त्वाष्ट्र पशु के दो विशेषणों—‘पर्यग्निकृत’ और ‘पालीवत’ का सामञ्जस्य भिन्न कर्म मानने पर सम्भव है। विहित कर्मानुष्ठान के अनन्तर उत्सर्जन ही जायगा। यदि उत्सर्ग का विधान मानकर उत्सर्जन कर दिया जाय, तो ‘पालीवत’ विशेषण निष्फल—व्यर्थ रह जाता है। इसलिए पर्यग्निकृत त्वाष्ट्र पशु के पालीवत होने का यह विधान है। वही याग है। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

होने से राजा की पत्नी होती है। इन्द्र ने मनु को ‘‘‘उसकी पत्नी पृथिवी से याग कराया—इसका तात्पर्य है—‘इन्द्र ने मनु को पृथिवीरूप पत्नी से संगत किया=मनु को राज्याधिकार दिया।’ मनु की पुत्री का नाम इच्छा था। इच्छा पृथिवी का नाम भी है। मनु ने प्रजा की समृद्धि के लिए रत्नगर्भा पृथिवी का दोहन किया। अतः इच्छा=पृथिवी उसकी दूहिता हुई। परन्तु आवश्यक दोहन के पश्चात् उसे छोड़ दिया, जिससे वह रिक्त हुई पुनः समृद्ध हो जावे। प्राचीन राजा लोग पृथिवी से धनधान्य वा रत्नादि की प्राप्ति के लिए उतना ही दोहन करते थे, जिससे उसकी क्षति न पहुँचे।’’

पशुयागों के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मीमांसक महोदय का विचार बड़ा उत्तेजक है। पृथिवी का दोहन करनेवाला सर्वाधिक मानव-समुदाय कृषिजीवी-वर्ग है। मानव-जीवन के निर्वाह के लिए सर्वाच्च और सर्वाधिक साधन-सामग्री कृषिजन्य उपज है। इसमें भी उत्खनन अपेक्षित है, पर ऊपरी। कृषि की निर्वाध पूर्णता के लिए गहरा उत्खनन आवश्यक हुआ; लोहे के बिना कृषि सम्भव नहीं। जितना पुराना कृषि-कार्य है, उतना पुराना लोहा है। फिर अन्य धातु व रत्न आदि सामने आ गये। मानव-समाज का समस्त उद्योग इन्हीं दो प्रकार की उपजों पर आधारित है। भारत में कृषि-उपज आदिकाल से गोवंश पर आधारित रही है। दूध और कृषि-उपज के लिए बछड़े गाय की देन हैं। यह सम्भव है, यदि समस्त पशुयागों का कृषि-सम्बन्ध से विचार किया जाय, तो इसकी मूलभूत वास्तविकता सामने आए, क्योंकि कृषि और गोवंश का अपरिहार्य सम्बन्ध भारत में सदा से रहा है। वस्तुतः भूमि को कुरेदने-खोदने का कार्य मुख्य रूप में कृषिजीवी-वर्ग करता है, राजा तो उसका केवल व्यवस्थापक व प्रबन्धक रहता है। कृषक जिस खेत में से एक वर्ष गहरी भारी फसल ले लेता है, अगले वर्ष उसे जोतकर खाली छोड़ देता है, यह उसका उत्सर्जन है; इससे भूमि में सूर्य-किरणों और वर्षा-जलों से उर्वरा शक्ति संचित होती है। यही पालीवत-कर्म में पशु के उत्सर्जन का रूप है।

पात्नीवते तु पूर्ववत्वाद् अवच्छेदः ॥१६॥

[पात्नीवते] 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतं' वाक्य में [तु] तो [पूर्ववत्वात्] पहले वाले कर्म के होने से, अर्थात् 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' इस पूर्वनिदिष्ट कर्म के ही यहाँ समझे जाने से [अवच्छेदः] उसी पूर्व-कर्म के साथ इसका सम्बन्ध है। उसी का यह अनुवाद है। तात्पर्य है, त्वाष्ट्र पात्नीवत कर्म की ही यहाँ 'उत्सृजन्ति' पद से उत्सर्जनरूप में समाप्ति कही है।

'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य में पात्नीवत कर्मान्तर नहीं है। प्रथम पठित 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' वाक्य-विहित त्वष्टा देवतावाले पश्वालम्भ का अनुवाद है। पर्यग्निकृत पशु के उत्सर्जन का विधान है। पशु का आलम्भ-अपेक्षित स्पर्श कर पर्यग्निकरण के अनन्तर उसे छोड़ दिया जाय। इसके मानने पर न तो पात्नीवत के भिन्न कर्म होने की कल्पना करनी पड़ेगी, और न 'उत्सृजन्ति' पदबोधित—पशु के उत्सर्ग का विधानरूप—अर्थ किसी वाक्य से बाधित होगा। इस वाक्य से—पर्यग्निकृत पशु का—पात्नीवत कर्म सम्बद्ध होने का विधान अनावश्यक भी है; क्योंकि पशु का पात्नीवत-सम्बन्ध पहले ही 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' वाक्य से विदित है। इस कारण यहाँ उसका पुनः विधान निष्प्रयोजन है। दो विशेषणों से विशिष्ट अर्थ का एक विशेषण से अनुवाद होना दोषावह नहीं है। विशेषण की समानता में अन्यतर विशेषण विशिष्ट अर्थ के अनुवचन में समर्थ रहता है। इसमें किसी बाधा की आशंका निराधार है। इससे निश्चित है, यह वाक्य (—पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति) त्वाष्ट्र पात्नीवत वाक्य (त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत) का अनुवाद है, कर्मान्तर नहीं ॥१६॥ (इति त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणत्वाऽधिकरणम्—८)।

(अदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम्—९)

तैत्तिरीय संहिता [३।३।४] में पाठ है—'एष वं हविषा हविर्यजति, योऽदाम्यं गृहीत्वा सोमाय जुहोति'—यह निश्चय ही हवि से हवि का यजन करता है, जो अदाभ्य का ग्रहण कर सोम के लिए होम (—याग) करता है। इसी के आगे पढ़ा है—'परा वा एतस्यायुः प्राण एति, योऽंशुं गृह्णाति'—इसकी आयु वा प्राण दूर चला जाता है, जो अंशु का ग्रहण करता है। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये अदाभ्य और अंशु इस नाम के ग्रहों में ग्रहणवाले यागान्तर हैं? अथवा ज्योतिष्टोम याग में ग्रहविधि है? प्रतीत होता है, यागान्तर हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रसंग में अदाभ्य अंशु नामवाला कोई याग नहीं है। न कोई ग्रह है, जिससे उसका दुबारा यहाँ स्मरण या अतिदेश किया जाय। इसलिए अदाभ्य और अंशु नामवाले ये भिन्न याग हैं। द्रव्य. देवता

का यहाँ निर्देश न होने पर भी 'यजति' का साक्षात् प्रयोग है, जो इनके याग होने का प्रयोजक है। इसलिये इन वाक्यों द्वारा 'अदाम्य' और 'अंशु' नामक यागों का विधान माना जाता युक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥

[अद्रव्यत्वात्] द्रव्य और देवता का निर्देश न होने से [केवले] केवल नाम-मात्र के सुने जाने पर [कर्मशेषः] ज्योतिष्टोम कर्म के शेष—अङ्ग [स्यात्] हैं, अदाम्य और अंशु नामक यह।

सूत्र में पठित 'द्रव्य' पद देवता का भी उपलक्षण है। याग वही कर्म माना जाता है, जिसमें द्रव्य, देवता दोनों का निर्देश हो। याग के लिए द्रव्य-देवता का नियत साहचर्य माना जाता है। सूत्र में अपठित भी देवता का—उक्त व्यवस्थानुसार—द्रव्य पद से ग्रहण हो जाता है। प्रस्तुत वाक्यों में द्रव्य और देवता किसी का भी निर्देश न होने से ये यागान्तर अर्थात् स्वतन्त्र याग नहीं हैं। ज्योतिष्टोम याग सोमयाग का एक भाग (=संस्था) है। ज्योतिष्टोम अनुष्ठान के अवसर पर जिन पात्रों में सोम का ग्रहण किया जाता है, उनका नाम 'अदाम्य' और 'अंशु' है। फलतः ये वाक्य ज्योतिष्टोम में ग्रहसंज्ञक पात्र-विशेष का विधान करते हैं। पात्र का भेद याग के भेद का प्रयोजक नहीं होता।

इन्हें यागान्तर मानने के लिए 'यजति' प्रयोग की जो बात कही है, वह युक्त नहीं; क्योंकि अदाम्य और अंशु पद का 'यजति' या 'जुहोति' के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत सीधा सम्बन्ध ग्रह धातु के साथ है—'अदाम्यं गृहीत्वा' तथा 'अंशुं गृह्णाति'। इससे स्पष्ट होता है, ज्योतिष्टोम के अवसर पर इन पात्रों में सोम ग्रहण किया जाता है। ये वाक्य उसी ग्रहण-क्रिया के विधायक हैं। इन पदों का सम्बन्ध—व्यवधान होने से—'यजति' तथा 'जुहोति' के साथ होना सम्भव नहीं। उक्त वाक्य में पदान्तरों का व्यवधान स्पष्ट है। फलतः 'यजति' के श्रवणमात्र से यागान्तर का विधान नहीं माना जा सकता। 'सोमेन यजेत' अथवा 'सोमाय यजते' में 'यजति' पद का कोई भिन्न अर्थ नहीं है; उभयत्र एक ही अर्थ है। वह प्रकृतियाग में पठित 'सोमेन यजेत' से विदित है। अविदित अर्थ का विधायक वाक्य यागविधि माना जाता है, इसलिए भी यहाँ 'यजति' यागान्तर का विधायक नहीं।

भाष्यकार शबर स्वामी ने सूत्र की अवतरणिका के प्रारम्भ में बताया कि ये वाक्य किसी के प्रकरण में नहीं सुने जाते। तात्पर्य है, किसी प्रकृतियाग का प्रारम्भ करके उसके प्रसंग में इन वाक्यों का उल्लेख हुआ हो, ऐसा नहीं है। परन्तु तैत्तिरीय संहिता में ज्योतिष्टोम के प्रकरण में ही इनका पाठ है। उद्यमें

नगण्य पाठभेद अवश्य है। परन्तु इससे भाष्यकार के लेख में किसी असांगत्य की उद्भावना करना निराधार होगा। सम्भव है, भाष्यकार ने शास्त्रान्तर में उसी प्रकार पाठ देखा हो, जैसा उल्लेख किया। इससे 'प्रकृत अर्थ' के विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥२०॥ (इति अदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम्—६)।

(अग्निचयनस्य संस्कारताऽधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्नि-कर्मविषयक अनेक वाक्य सुने जाते हैं, तद्यथा—'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते'—'जो इस प्रकार जानता हुआ अग्नि का चयन करता है' इत्यादि का विधान कर आगे कहा—'अथातो अग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुयधेन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिता।'—इसके अनन्तर अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है, उसका उक्थ से, उसका अतिरात्र से, उसका षोडशि से, इत्यादि।

यहाँ सन्देह है, क्या यह 'अग्नि' पद ज्योतिष्टोमादि कर्मों से भिन्न अग्नि-संज्ञक कर्मविशेष का वाचक है, जो 'चिनुते' आख्यात से कहा गया है? अथवा द्रव्यविशेष का वाचक होता हुआ ज्योतिष्टोमादि में अग्निरूप गुण का विधान करता है? प्रतीत होता है, अग्नि पद यागविशेष का वाचक है। इसमें हेतु है—अग्नि के स्तोत्र, शस्त्र और उपसद् का होना। 'अग्नेः स्तोत्रम् अग्नेः शस्त्रम्, षड् उपसदोऽनेऽश्चित्यस्य भवन्ति।'—अग्नि का स्तोत्र है, अग्नि का शस्त्र है, अग्निचयन के छह उपसत् होते हैं। ये सब याग के होते हैं; अतः अग्नि पद यागवाचक है। इनकी हेतुता 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति' आदि वाक्यों से पुष्ट होती है—अनन्तर इस अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है, अर्थात् याग को सम्पन्न करता है। अगले वाक्यों में भी 'तम्' सर्वनाम 'अग्नि' को बोधित करता है। इससे प्रतीत होता है, यह अग्नि-संज्ञक याग है। इसी मान्यता में 'यजति' के साथ 'अनु' उपसर्ग उपपन्न होता है। तात्पर्य है, अग्नि के याग माने जाने पर ही अग्निष्टोम से किया गया याग अनुयाग ही सकता है। अतः अग्नि को याग मानना युक्त है। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् ऋतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥

[अग्निः] उक्त वाक्य में अग्नि पद [तु] तो [लिङ्गदर्शनात्] 'अग्नेः स्तोत्रम्' आदि हेतुओं के देखे जाने से [ऋतु शब्दः] यागवाचक शब्द [प्रतीयेत] प्रतीत होता है, जैसा सूत्र की अवतरणिका में स्पष्ट कर दिया गया है।

'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' वाक्य तैत्तिरीय संहिता [५।५।२] में उपलब्ध है। भाष्यकार ने अन्य जितने वाक्य उस सम्बन्ध में उद्धृत किए हैं, वे संहिता में

उपलब्ध नहीं। सम्भव है, भाष्यकार ने अन्य शास्त्राओं के आधार पर ये पाठ दिये हों ॥२१॥

सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥

[वा] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है—अग्नि पद यागवाचक नहीं है। [द्रव्यम्] द्रव्यवाचक [स्यात्] है। [चोदनायाः] 'चिनुते' इस प्रेरणा-पद के [तदर्थत्वात्] अग्नि के लिए होने से। तात्पर्य है, 'चिनुते' आख्यात-पद—अग्नि को चयन से संस्कृत करके स्थापित करता है—इस अर्थ को कहनेवाला होने से।

'अग्नि' पद उक्त वाक्य में प्रसिद्ध दाहक द्रव्य का वाचक है, किसी याग का नहीं। वाक्य में 'चिनुते' यह विधायक आख्यात-पद अग्नि का चयन करने के लिए है—चिनुते=चयन करता है। 'यजति' के अर्थ को कहने में यह असमर्थ है। इष्टकाओं से निर्मित स्थण्डिल पर अग्नि का चयन करना—व्यवस्थापूर्वक स्थापित करना अग्नि का संस्कार है। अग्निचयन के सम्पन्न हो जाने पर अग्निष्टोम याग से यजन करता है,—यह अर्थ 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनवानुयजति' से स्पष्ट किया गया है। 'अनुयजति' अनु उपसर्ग 'पश्चात्' अर्थ को कहता है। अग्नि के चयन-संस्कार के अनन्तर अग्निष्टोम से यजन किए जाने का कथन है। फलतः उक्त वाक्य में 'अग्नि' पद याग का वाचक न होकर अग्निष्टोम में अग्निचयनरूप संस्कारगुण का विधान करता है ॥२२॥

उसी अर्थ को सूत्रकार अगले सूत्र से पुष्ट करता है—

तत् संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

[तत्संयोगात्] चयन द्वारा संस्कार किए अग्नि के संयोग से, उस अग्नि में किया जानेवाला [क्रतुः] याग [तदाख्यः] उस नामवाला, अर्थात् अग्नि नाम-वाला [स्यात्] होता है। [तेन] इस कारण [धर्मविधानानि] उस अग्निजनक कर्म के धर्मों—विशेषताओं का विधान करते हैं, 'अग्नेःस्तोत्रम्' आदि स्तोत्र-शस्त्र-उपसत्। तात्पर्य है, स्तोत्र-शस्त्र-उपसत् उस क्रतु के धर्म हैं, जो चयन द्वारा संस्कृत अग्नि में किए जाने के कारण अग्नि नामवाला है।

इस अधिकरण का सार इस प्रकार समझना चाहिए, 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' वाक्य चयन द्वारा अग्नि के संस्कार का विधायक है। इसी कार्य के लिए ईंटों से निर्मित स्थण्डिल=वेदि पर विधिपूर्वक अग्नि की स्थापना करना अग्नि का चयनरूप संस्कार है। प्रत्येक याग इसी संस्कृत अग्नि में किया जाता है। चूल्हे या भाड़ आदि से अग्नि लेकर उसमें याग करना शास्त्रीय विधान के अनुकूल नहीं है। उस संस्कृत अग्नि में जो याग किया जाता है, वह याग भी अग्नि पद से लक्षित

होता है। 'अग्नेः स्तोत्रम्' आदि में अग्नि पद उसी अग्निपदलक्षित क्रतु का बोधक है, दाहरूप अग्नि द्रव्य का नहीं। इसलिए जिज्ञासा-प्रसंग में इन पदों के आधार पर जो बात कही गई है, वह युक्त नहीं है। फलतः स्तोत्र-शस्त्र आदि याग के ही धर्म हैं। अग्नि का चयनरूप संस्कार याग नहीं है ॥२३॥ (इति अग्निचयनस्य संस्कारताञ्चिकरणम्—१०)।

(मासाग्निहोत्रादीनां ऋत्वन्तरताञ्चिकरणम्—११)

कुण्डपायियों के अयन में पाठ है—'मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्ण-मासाभ्यां यजेते'—महीनाभर अग्निहोत्र होम करता है, महीनाभर दर्शपूर्णमासों से यजन करता है। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास नियतकाल में होनेवाले कर्म हैं। अग्निहोत्र नित्य प्रातः-सायं किया जाता है; दर्श अमात्रास्या तिथि में तथा पूर्णमास पौर्णमासी तिथि में किया जाता है। तब क्या ये वाक्य नियतकालिक अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास में महीनाभर काल-गुण का विधान करते हैं? अथवा ये भिन्न कर्म हैं? प्रतीत होता है, उक्त कर्मों में ये काल-गुण के विधायक हैं; क्योंकि नियतकालिक वाक्यों में यह मास काल-गुण का विधान उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त उक्त कर्म वाक्यान्तरों से विदित हैं, मासभर काल का सम्बन्ध अविदित है, अतः उन्हीं अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्ण-मास यागों में मासभर काल-गुण का विधान यहाँ मानना चाहिए। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥

[प्रकरणान्तरे] भिन्न प्रकरण में पठित वाक्यों का [प्रयोजनान्यत्वम्] अन्य प्रयोजन है, अर्थात् ये वाक्य, अग्निहोत्रादि वाक्यों से भिन्न कर्म हैं।

कुण्डपायि-अयन नामक क्रतुविशेष है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी [३।१।१३७] में इस क्रतु का 'कुण्डपाय्य' नाम से उल्लेख किया है। वैदिक सूत्र-साहित्य [लाटया० श्रौ० १०।१२।१३] से ज्ञात होता है, सोम-गान के चमस से हृत्या अलग कर जो याज्ञिक कूण्डे के समान चौकोर पात्र से यागकाल में सोमपान करते थे, वे कुण्डपाय्य अथवा कुण्डपायी नाम से जाने जाते रहे हैं। उस वर्ष द्वारा प्रस्तुत प्रकरणों में जो मासभर अग्निहोत्र और मासभर दर्श-पूर्णमास के होम-याग का उल्लेख है, वे उस अग्निहोत्र-होम और दर्श-पूर्णमास याग से सर्वथा भिन्न कर्म हैं, जिनका अन्यत्र वैदिक साहित्य में विधान है। इसलिए कुण्डपायियों के वर्ग में पठित वाक्यों का अन्यत्र पठित 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' तथा 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेते' वाक्यों से कोई सम्बन्ध न होने के कारण यह समझना नितान्त निराधार है कि कुण्डपाय्य प्रकरण में पठित वाक्य अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास विधियों में मास-

काल-गुण के विधायक हैं। वस्तुतः वे कर्म अग्निहोत्रादि विधियों से सर्वथा भिन्न कर्म हैं।

इसका मुख्य आधार कुण्डपाय्य प्रकरण में कहा है। वहाँ 'उपसद्भिश्चरित्वा' कहकर 'मासमग्निहोत्र' आदि पढ़ा है [आप०श्रौत०, २३।१०।८, ९]। तात्पर्य है, उपसत्-कर्म करके मास-अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करना है। परन्तु यह उपसत्-कर्म नियतकालिक अग्निहोत्र तथा दश-पूर्णमास में नहीं होता। अतः कुण्डपाय्य प्रकरण में पठित कर्म, नियतकालिक अग्निहोत्रादि से भिन्न हैं ॥२४॥ (इति मासाग्निहोत्रादीनां ऋत्वन्तरताजधिकरणम्—११)।

(आग्नेयादि काम्येष्वधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय वाक्य किसी कर्मविशेष का आरम्भ न करके पढ़े गए हैं, जैसे—'अग्नये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः [तं० सं० २।२।३]—रुक्=कान्ति की कामनावाला व्यक्ति अग्निदेवतार्थ अष्टाकपाल में संस्कृत हवि का निर्वाप करे। इसी प्रकार अन्य वाक्य है 'अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' [मै०सं० २।१।४]—ब्रह्मवर्चस की कामनावाला व्यक्ति अग्नि और सोम देवतावाले—एकादश कपाल में संस्कृत—हवि का निर्वाप करे। अन्य वाक्य है—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः' [तं० सं० २।२।१]—प्रजा की कामनावाला व्यक्ति इन्द्र और अग्नि देवतावाले—एकादश कपाल में संस्कृत—हवि का निर्वाप करे।

यहाँ सन्देह है, क्या ये आग्नेय आदि स्वतन्त्र कर्मान्तर हैं? अथवा दश-पूर्णमास में अनुष्ठेय आग्नेय आदि कर्मों में रुक् आदि फलों के विधायक हैं? प्रतीत होता है, ये फलविधि हैं, क्योंकि प्रकृतियाग दश-पूर्णमास में विहित आग्नेय आदि प्रथम विदित हैं; उन्हीं का यहाँ अनुवाद कर उनमें फल-सम्बन्ध का यह विधान है। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥

[अकर्मसन्निधौ] कर्मविशेष की समीपता न होने पर, केवल [फलम्] फल-निर्देश [च] भी भिन्न कर्म होने का प्रयोजक होता है।

कर्म-समीपता का तात्पर्य है, कर्म-विधायक पद का होना। प्रस्तुत वाक्यों में कोई कर्म-विधायक पद नहीं है। पर प्रत्येक वाक्य में यथाक्रम रुक् (कान्ति), ब्रह्मवर्चस और प्रजारूप फल का निर्देश है। कर्मविधायक पद के न होने पर भी केवल फल का निर्देश कर्मविशेष का प्रयोजक होता है, क्योंकि फल किसी कर्म का ही सम्भव है। प्रकृतियाग दश-पूर्णमास में श्रूयमाण आग्नेयादि कर्मों का यहाँ अनुवाद सम्भव नहीं, क्योंकि कान्ति आदि उनके फल नहीं हैं। इसलिए ये आग्नेय

आदि कर्म उनसे भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि ये आग्नेयादि कर्म काम्येष्टि हैं। विशेष कामना से इनका अनुष्ठान किया जाता है। कान्ति-कामना से आग्नेय, ब्रह्मवर्चस-कामना से अग्नीषोमीय, प्रजा-कामना से ऐन्द्राग्न। दर्श-पूर्णमास में कहे गये आग्नेय आदि कर्म काम्येष्टि नहीं हैं; वे नियतकालिक नित्यकर्म हैं। कामना कभी होने कभी न होने के कारण अनित्य हैं। नित्यकर्म का अनित्यकर्म-स्थान में अनुवाद कहे जाने का कोई सामञ्जस्य नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यों में विशिष्ट फल का निर्देश इस तथ्य का प्रयोजक है कि ये वाक्य—दर्श-पूर्णमास में श्रूयमाण आग्नेयादि कर्मों से—भिन्न कर्म के विधायक हैं ॥२५॥ (इत्याग्नेयादि काम्येष्ट्यधिकरणम्—१२)।

(अवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम्—१३)

राजसूय की अङ्गभूत अवेष्टि नामक इष्टि है 'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति' अग्नि देवतावाला आठ कपालों में पकाया पुरोडास होता है। उस अवेष्टि का आरम्भ करके कहा—'एतया अन्नाद्यकामं याजयेत्' इससे—अन्नभक्षण में क्षमताप्राप्ति की कामनावाले को—यजन कराये। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह 'एतया...' वाक्यविहित कर्म अवेष्टि याग से भिन्न कर्म है? अथवा अवेष्टि का ही यह फलनिर्देश है? प्रतीत होता है, यह अवेष्टि से भिन्न कर्म है; जैसाकि गत सूत्र में निर्णय किया गया है, फल का निर्देश भी कर्मान्तर का प्रयोजक होता है। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥

[सन्निधौ] अवेष्टि कर्म के समीप्य में पढ़ा गया 'एतया...' आदि वाक्य [तु] तो [अविभागात्] अवेष्टि-विधायक वाक्य से अलग न होने के कारण [फलार्थेन] फलनिर्देश के प्रयोजन से [पुनः श्रुतिः] अवेष्टि का ही 'एतया' पद से यहाँ पुनः श्रवण होता है।

'आग्नेयोऽष्टाकपालः...' इत्यादि के रूप में अवेष्टि का आरम्भ करके समीप ही 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' वाक्य पढ़ा गया है। 'एतत्'-पद समीपस्य का परामर्श करता है। वह अवेष्टि-याग के लिए कहा गया है। यहाँ उसी के फल—अन्नभक्षण-क्षमताप्राप्ति का निर्देश है। अर्थ होगा—अन्नाद्य कामनावाले के लिए अवेष्टि से याग कराए, इसलिए यह कर्मान्तर न होकर अवेष्टि का ही फलविधि है। इसे अवेष्टि-याग मानने पर अवेष्टि के लिए विहित हविद्रव्यों की उपस्थिति होगी, जो प्रसंग में निर्दिष्ट हैं। यदि इसे कर्मान्तर मानते हैं, तो अन्य हवियों का विधान मानना होगा, जो कहीं उपलब्ध नहीं है। यदि कहीं 'एतत्'-

पद असन्निहित [द्र० २।२।२७] का परामर्शक कहा है, तो वह लाक्षणिक ही समझना चाहिए ॥२६॥ (इत्यवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम्—१३)

(आग्नेयद्विसवतेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१४)

दर्श-पूर्णमास यागों के विषय में कहा—‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति’^१ अग्नि देवतावाला आठ कपालों में संस्कृत हविद्रव्य अमावास्या और पौर्णमासी में छूटा हुआ कभी नहीं रहता; अवश्य हुत किया जाता है। ऐसा विधान कर आगे पुनः कहा—‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति’^२—आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या में होता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या अमावास्या में दो आग्नेय यागों से यजन करना चाहिए? अथवा एक बार ही आग्नेय याग करना चाहिए? दो बार कहे जाने से दो बार किया जाना प्रतीत होता है। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वाद्भ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥

[आग्नेयः] ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः...’ इत्यादि वाक्यविहित आग्नेय याग [तु] तो [उक्तहेतुत्वात्] (२।२।२ सूत्र में कहे गये) हेतु से [अभ्यासेन] अभ्यासरूप से, अर्थात् दो बार किया जाना [प्रतीयेत] प्रतीत होता है।

मीमांसा के [२।२।२] सूत्र में अभ्यास अर्थात् वान्य के पुनः श्रवण को दो बार यजन का प्रयोजक बताया है; वैसे ही कथन यहाँ है। यदि यजन दो बार नहीं किया जाता, तो कर्म का पुनः-श्रवण यजन के अभाव में व्यर्थ हो जाता है। तात्पर्य है, ये दोनों भिन्न कर्म हैं, एक नहीं ॥२७॥

आचार्य ने जिज्ञासा का आंशिक समाधान किया—

अविभागात्तु कर्मणो^३ द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥२८॥

[तु] ‘तु’ पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है—आग्नेय याग का दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिए। [कर्मणः] कर्म के [अविभागात्] विभक्त—अलग-अलग न होने से। [द्विरुक्तेः] दो बार कथन से [न विधीयते] विधान दो बार नहीं किया जाता।

१. तै० सं० २।१।२ में यह वाक्य लिखरा हुआ मिलता है। इसी आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।१।३॥

३. ‘कर्मणा’ क्वाचित्कः पाठः। ‘कर्मणो द्विरुक्तो न विधीयते’ पाठ सुबोधिनो वृत्ति में है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं। पद-योजना से अर्थ अपनी वास्तविक उसी रेखा के अन्तर्गत आ जाता है, जो स्वीकार्य है।

पूर्वोक्त विभिन्न दो वाक्यों के अनुसार अमावास्या में आग्नेय याग का दो बार अनुष्ठान युक्त नहीं है। यद्यपि वे वाक्य दो हैं—‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति’ तथा ‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति’। परन्तु इन दोनों का अर्थ एक ही है। यहाँ आग्नेय याग के दो बार अनुष्ठान के लिए कोई विधायक पद नहीं है। दो बार पाठमात्र से यह अर्थ नहीं निकल सकता कि आग्नेय का अमावास्या में दो बार अनुष्ठान किया जाय। वाक्य का जितना प्रतिपाद्य अर्थ है, सी बार उच्चारण करने पर भी अर्थ उतना ही रहता है। उक्त वाक्यों से दो बार अनुष्ठान किया जाना अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। अतः ये भिन्न कर्म न होकर आग्नेय एक ही कर्म अमावास्या में अनुष्ठेय होता है ॥२८॥

यदि ऐसा है, तो वह प्रथम वाक्य से विहित है; उसी का वाक्यन्तर से पुनः विधान करना निरर्थक है। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२९॥

[वा] ‘वा’ पद अवधारण—निश्चय अर्थ में है। निश्चय ही [पुनः श्रुतिः] आग्नेय याग का पुनः श्रवण [अन्यार्था] अन्य प्रयोजनवाला है।

‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति’ इस वाक्य से विहित जो आग्नेय याग है, उससे भिन्न है वह याग, जो ‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति’ वाक्य से विहित हुआ है। भिन्न कर्म मानने पर इनमें विकल्प की कल्पना की गई कि अमावास्या में अन्यतर—दोनों में से किसी एक—याग से अनुष्ठान करे। इन दोनों का समाधान गत सूत्र में किया गया कि ये आग्नेय भिन्न कर्म नहीं हैं। एक प्रकरण में पठित हैं, तथा जो प्रथम वाक्य से आग्नेय याग अभिहित है, वही द्वितीय वाक्य से कहा गया है, इस प्रत्यभिज्ञा के अनुसार कर्म-भेद का निराकरण किया गया।

वस्तुतः यह आंशिक समाधान है, क्योंकि इसमें यह अन्य जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि जब प्रथम वाक्य से आग्नेय याग का विधान हो गया, तब उसी का विधायक अन्य वाक्य निरर्थक हो जाता है। इसी के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने बताया—आग्नेय याग के पुनः श्रवण का प्रयोजन अन्य है, आग्नेय याग का विधान इसका प्रयोजन नहीं है। वह प्रयोजन है—ऐन्द्राग्न याग का स्तुतिरूप अर्थवाद। तात्पर्य है, आग्नेय हविद्रव्य के साथ ऐन्द्र हविद्रव्य भी—अमावास्या में अनुष्ठेय याग में—आहुत होना चाहिए। ऐन्द्र हवि दधि है।

१. द्रष्टव्य—तै० सं० २।५।३ में वृत्रवध के अनन्तर इन्द्र के वृद्ध (=देवता और इन्द्रिय से रहित) हो जाने का निर्देश करके कहा है—“स एतमाग्नेय-

‘ऐन्द्रान्न’ से तात्पर्य यहाँ ‘ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्दपेत्’ तथा ‘स एतमेन्द्राग्न-मेकादशकपालममावास्यायामपश्यत्’ आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट इन्द्र और अग्नि देवतावाले यागविशेष से नहीं है। यह आग्नेय याग में—ऐन्द्र हवि के स्तुतिरूप अर्थवाद के साथ आग्नेय हवि में ऐन्द्र हवि के सहभाव का निर्देश करता है। तात्पर्य है, अमावास्या में आग्नेय याग होता ही है, पर अकेले अग्नि हवि से वह समीचीन रूप में सम्पन्न नहीं होता; इन्द्रहवि-सहित अग्निहवि से वह साधु सम्पन्न होता है। पुनः श्रुति का यही प्रयोजन है।

भाद्रमास का उत्तरार्द्ध वर्षा ऋतु के अन्तिम दिन होते हैं। त्याग की भावना याग है। आग्नेय याग में अग्नि का त्याग अभिलषित है। वृषवध के अनन्तर आग्नेय याग से इन्द्र (सूर्य) समृद्ध—तीव्र तापयुक्त हो गया है। उसका त्याग अपेक्षित है; उस समय की धूप से बचना चाहिए। पर स्वास्थ्य के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं। ऐन्द्र हवि दधि का भी त्याग हो, तो यह स्वास्थ्यरूप समीचीन होता है। लोक-व्यवहार भी भादों की धूप और भाद्र में दधि को त्याज्य—अनाहार्य बताता है ॥२६॥ (इत्याग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१४)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अष्टाकपालममावास्यायामपश्यत्, ऐन्द्रं दधि, तं निरवपत्, तेन वै स देवता-श्चेन्द्रियं चावारुन्ध । यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति ऐन्द्रं दधि देवताश्चैव तेनेन्द्रियं च यजमानोऽवरुन्धे” पाठ मिलता है। इससे विदित होता है कि आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का विधान—सान्नाय्य पक्ष में—ऐन्द्र दधि पक्ष में किया है। इसके अनुसार सान्नाय्य पक्ष में अमावास्या-कर्म में इन्द्र के साथ अग्निदेवता के सहभाव के लिए जानना चाहिए। (यु० मी०)

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

(यावज्जीवाग्निहोत्राऽधिकरणम्—१)

वैदिक वाङ्मय में पठित 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य सुना जाता है, —जब तक जीवन है, तब तक अग्निहोत्र करे। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—जीवनपर्यन्त दर्श-पूर्णमास यागों से यजन करे। शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या यह यावज्जीवन क्रिया जाना कर्म का अभ्यासरूप है ? जिज्ञासा का कारण है—'जुहोति, यजेत' पदों के विषय में यह सन्देह है कि इनको अन्य विधिवाक्य का अनुवाद माना जाय ? अथवा स्वयं इन्हें विधिवाक्य माना जाय ? यदि इन्हें अनुवाद माना जाता है, तो अन्य विधिवाक्य से विहित अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास याग में—ये वाक्य—यावज्जीविकता (यावज्जीवन होना) का विधान करेंगे; तब यावज्जीविकता कर्म का—अभ्यास रूप—धर्म होगा। यदि इन वाक्यों को अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास के विधायक माना जाता है, तो यावज्जीविकता कर्ता का धर्म होगा। कर्ता यावज्जीवन अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास का नियमितरूप से अनुष्ठान करे। तात्पर्य है, क्या इन वाक्यों से अग्निहोत्र होम आदि को उद्देश करके यावज्जीविकता का विधान किया जाता है ? अथवा यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र होम आदि का विधान किया जाता है ? प्रतीत होता है, अग्निहोत्र होम आदि को उद्देश करके उनमें यावज्जीवन गुण के विधायक हैं ये वाक्य। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्ष-रूप से सूत्रित किया—

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥

[यावज्जीविकः] 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' में जीवनपर्यन्त होनेवाला [अभ्यासः] अभ्यास = कर्म की आवृत्ति [कर्मधर्मः] अग्निहोत्र कर्म का धर्म है, [प्रकरणात्] अग्निहोत्र प्रकरण में पठित होने से।

यावज्जीवन अग्निहोत्र करने का तात्पर्य है—अग्निहोत्र का अभ्यास, अर्थात् समयानुसार निरन्तर नित्य अग्निहोत्र करते रहना। इस रूप में यह अभ्यास कर्म

का धर्म है, यह स्पष्ट होता है। क्योंकि अग्निहोत्र कर्म ही नित्य किया जाता है, यह उसी का अभ्यास है। इस वाक्य के अग्निहोत्र प्रकरण में पठित होने से उक्त मान्यता को पुष्टि मिलती है। इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास का यावज्जीवन अभ्यास समझना चाहिए। इस रूप में यह अभ्यास दर्श-पूर्णमास कर्म का धर्म सम्भव है। जो याग दीर्घकालिक होते हैं, उनको 'सत्र' कहते हैं। उसकी प्रशंसा में कहा जाता है, बुढ़ापा आने तक अथवा मृत्यु आने तक 'सत्र'-संज्ञक यागों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। सत्र के समान ही अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास की स्तुति की गई है—'जराग्र्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्श-पूर्णमासौ चेति ।' यह अर्थवाद दीर्घ-काल तक किये जानेवाले अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास की प्रशंसा करता है। इस कारण यह अभ्यास अग्निहोत्र आदि कर्मों का धर्म समझना चाहिए। फलतः 'यावज्जीवम्' आदि वाक्यों में 'जुहोति, यजेत' पद अन्य विधायक वाक्यों— 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' तथा 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' के अनुवाद हैं। उनमें यावज्जीविता गुण का विधान करते हैं ॥१॥

जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कर्तृर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है, यावज्जीवन अभ्यास कर्म का धर्म नहीं है, [कर्तृः] कर्ता का धर्म है, [श्रुतिसंयोगात्] श्रुतिबोधित अर्थ के साथ सम्बद्ध होने से।

अग्निहोत्र आदि कर्मों का अभ्यास अर्थात् आवृत्ति कर्ता का धर्म है, अग्निहोत्र की आवृत्ति अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति करता है। आवृत्ति का विषय अग्निहोत्र अवश्य है, पर आवृत्ति करना कर्ता का धर्म है। अग्निहोत्र का सायंप्रातः नित्य अनुष्ठान ही अग्निहोत्र का अभ्यास व आवृत्ति है, वह धर्म अनुष्ठाता का है। ये वाक्य अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास याग का विधान करते हैं। क्योंकि श्रुति-वाक्य में पठित 'जुहोति' तथा 'यजेत' पदों का अभिधाशक्ति-बोधित अर्थ यही है।

वाक्यों में 'यावज्जीवम्' पद क्रियाविशेषण है। क्रिया के नैरन्तर्य को लक्षणावृत्ति से बोधित करते हैं, क्योंकि क्रिया का नैरन्तर्य = अभ्यास 'यावज्जीवम्' पद का अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ नहीं है। क्रिया = होम आदि का यह अभ्यास अनुष्ठाता = कर्ता के अधीन रहता है। अतः कर्ता का वह धर्म है; यदि कर्ता क्रिया—होम आदि का अनुष्ठान न करे, तो स्वयं उसका अभ्यास होना असम्भव है।

प्रतिसायंप्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र एक ही कर्म है। कालभेद कर्म-भेद का प्रयोजक नहीं है; ऐसा नहीं कि सायंकाल का अग्निहोत्र भिन्न कर्म तथा

प्रातःकाल का भिन्न । यदि ऐसा हो तो कर्मविषयक अभ्यास का कथन असंगत होगा । भिन्न कर्मों का कालभेद से अनुष्ठान 'अभ्यास' नहीं कहा जा सकता । एक ही कर्म का पुनः-पुनः किया जाना 'अभ्यास' कहा जाता है । यही बात दर्श-पूर्ण-मास में समझनी चाहिए । प्रत्येक अमावास्या में एक ही दर्श-याग का अभ्यास, तथा प्रत्येक पौर्णमासी में एक ही पूर्णमास-याग का अभ्यास होता है । अतः प्रथम वाक्य अग्निहोत्र होम का विधायक होते हुए उसमें कर्मभेद का प्रयोजक नहीं है । इसी प्रकार दर्श-पौर्णमास यागों के विषय में समझना चाहिए ।

'जरामर्थ' अर्थवाद सूत्र के समान दीर्घकालिक होने से अग्निहोत्र व दर्श-पूर्ण-मास कर्मों की स्तुति करता है; पर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'यावज्जीव' आदि वाक्य अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास याग के विधायक नहीं हैं । फलतः कर्मों का अभ्यास कर्त्ता का धर्म है, यह स्पष्ट होता है ॥२॥

यावज्जीवन अभ्यास कर्म का धर्म नहीं है, इसकी पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

**लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मो हि क्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्
स्यात् ॥३॥**

[लिङ्गदर्शनात्] अन्य हेतु के देखे जाने से [च] भी 'यावज्जीवन' वाक्य-बोधित कर्मभ्यास कर्त्ता का धर्म जाना जाता है । [हि] क्योंकि [कर्मधर्म] कर्म का धर्म मानने पर यावज्जीविता = जीवनपर्यन्त होना [प्रक्रमेण] कर्म के प्रारम्भ से लगाकर अन्त तक [नियम्येत] नियमित होने से नियन्त्रित रहेगा, कर्म आवश्यक रूप से होगा [तत्र] उस दशा में [अन्यत्] कर्म के उल्लंघन में कथित प्रायश्चित्त [निरर्थकम्] व्यर्थ [स्यात्] हो जाता है ।

तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—'अव वा एष सुवर्गल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपादयति'—वह यजमान निश्चय ही स्वर्गलोक से चिन्न हो जाता है—कट जाता है, अर्थात् स्वर्गलोक का अधिकारी नहीं रहता, जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर अमावास्या एवं पौर्णमासी का अतिपाद—त्याग करता है; याग किये बिना छोड़ देता है । यावज्जीवन किये जाने को कर्म का धर्म मानने पर अग्नि का आधान होने के साथ ही प्रारम्भ होकर यावज्जीवन-काल से ही सम्पन्न होगा । उसमें काल का उल्लंघन, अर्थात् अमावास्या व पौर्णमासी का बिना याग छूट जाना होगा ही नहीं । तब तैत्तिरीय वाक्य में याग के उल्लंघन से कथित प्रायश्चित्त निरर्थक होगा । तात्पर्य है, कर्म का धर्म मानने पर कर्म काल का त्याग नहीं कर सकता । कर्म कर्त्ता के अधीन है; कर्त्ता कर्म के करने, न करने, तथा अन्यथा करने में समर्थ रहता है । इसलिए कर्त्ता का धर्म मानने पर कर्म-काल का उल्लंघन तथा उस कारण प्रायश्चित्तीय

होना कर्त्ता के लिए समञ्जस है। अतः प्रायश्चित्त-विधान निरर्थक नहीं रहता। यह इस वास्तविकता का प्रयोजक है कि यावज्जीवन कर्माभ्यास कर्त्ता का धर्म है, कर्म का नहीं ॥३॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

व्यपवर्गञ्च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

[व्यपवर्गम्] विशेष कर्म के अपवर्ग = समाप्ति, तथा [च] पद से कर्मान्तर के आरम्भ को [दर्शयति] दिखाता है। [चेत्] यदि [कालः] यावज्जीव काल उद्देश्य होता है, तो वह [कर्मभेदः] वाक्य-बोधित कर्मभेद [स्यात्] उपपन्न होता है।

तैत्तिरीय संहिता [२।१।६] में पाठ है—‘यो दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते’ इत्यादि—जो दर्श-पूर्णमास यागों को करके सोम से यजन करता है। इस वाक्य में दर्श-पूर्णमास को समाप्त कर, कर्मान्तर सोमयाग के करने का निर्देश है। यह कर्मभेद का निर्देश उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब विचार्यमाण उक्त ‘यावज्जीव’ वाक्यों में यावज्जीव को उद्देश कर अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का विधान माना जाता है। इस मान्यता में ‘यावज्जीव’ कर्म का धर्म न होकर कर्त्ता का धर्म रहता है। यदि इसे कर्म का धर्म माना जाता है, तो तैत्तिरीय संहिता में उक्त कर्मभेद का निर्देश उपपन्न नहीं होता; क्योंकि यावज्जीव कर्म की समाप्ति जीवन की समाप्ति के साथ सम्भव है। तब दर्श-पूर्णमास की समाप्ति [दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा] दिखाकर कर्मान्तर सोमयाग के आरम्भ का निर्देश असंगत होगा, क्योंकि दर्श-पूर्णमास कर्म तो यावज्जीवन में समाप्त होना है। यदि कर्त्ता का धर्म ‘यावज्जीव’ माना जाता है, तो यह आपत्ति नहीं होती; क्योंकि कर्त्ता नियत समय पर दर्श आदि का अनुष्ठान कर कर्मान्तर का अनुष्ठान भी कर सकता है। फलतः तैत्तिरीय संहिता का उक्त वाक्य ‘यावज्जीव’ के कर्तृधर्म का प्रयोजक है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक काम्य कर्म, दूसरे नियत कर्म अर्थात् नित्य कर्म। कामना से किये जानेवाले कर्म पहले, और नियमित रूप से किये जानेवाले कर्म दूसरे हैं। ऋचावणी संहिता [३।६।६] में पाठ है—“आहिताग्निर्वा एष सन् नाग्निहोत्रं जुहोति न दर्शपूर्णमासी यजते, तद् वा आहुतिभाजो देवतास्ता अनुष्यायिनीः करोति”—जो यह यजमान आहिताग्नि होकर न अग्निहोत्र होम करता है, न दर्श-पूर्णमास यजन करता है, वह उन देवताओं को अनुष्यायिनी करता है, जो आहुतिभाक् हैं। तात्पर्य है, अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास से जिन देवताओं को आहुति प्राप्त होनी होती है, अग्निहोत्रादि न करने पर उन देवताओं को—यह स्थिति—हमें आहुति मिलेगी—ऐसा चिन्तन करनेवाली वना देती

है। संहिता का यह अनुध्यायिनी कथन उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास को नियत (= नित्य) कर्म माना जाता है। 'यावज्जीव' वाक्यों में यदि होम-याग को उद्देश करके यावज्जीवन काल का विधान माना जाता है, तो ये वाक्य काम्य कर्मों की कोटि में आ जाते हैं—काल की कामना से होम-याग का अनुष्ठान होना। काम्यपक्ष में कामना न होने पर कर्म का आरम्भ न करके, अथवा जब तक इच्छा हुई तब तक कर्म करके इच्छा न रहने पर छोड़ देने से भी कर्म का त्याग सम्भव है। ऐसी स्थिति में अनियत आहुति-भाग का देवता—यह हमारा भाग होगा—ऐसा अनुध्यान नहीं करता। इसलिए 'यावज्जीव' वाक्यों में यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठान का विधान है, यह निश्चित होता है।

इसी प्रकार 'जरामयं वा' इत्यादि वाक्य में—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास सत्रों के अनुष्ठान से छुटकारा—बुढ़ापा या मृत्यु होने पर ही सम्भव है, यह अवधारणात्मक कथन उक्त कर्मों को नियत कर्म माने जाने पर ही उपपन्न होता है। काम्य कर्म चाहे जब छोड़े जा सकते हैं, उनके लिए ऐसा अवधारण कथन उपेक्षित नहीं। अतः उक्त वाक्यों में नियत अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास का विधान मानना युक्त है ॥४॥

इसी अन्तिम उपपत्ति को सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से स्वयं स्पष्ट किया—

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

सूत्र का 'तु' पद अन्वाचय अर्थ में है। मुख्य अर्थ को कहकर उसके साथ गौण अर्थ को जोड़ देना 'अन्वाचय' है, यह समुच्चय का साथी है। [अनित्यत्वात्] 'यावज्जीव' को कर्म का धर्म मानने पर उसके काम्य कोटि में आने से, अनित्य होने के कारण [तु] भी [एवम्] 'जरामयं वाक्य में कहा' ऐसा अवधारण उपपन्न [न] नहीं [स्यात्] होता।

'जरामयं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च' [शं ब्रा० १२।४।१।१]—अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास सत्र जरामयं हैं, इनके अनुष्ठान से छुटकारा तभी होता है, जब या तो बुढ़ापा—अत्यन्त शारीरिक शैथिल्य आ जाय, या फिर मरण हो जाय। ये नित्य कर्म हैं। मनु [२।१०६] ने बताया—'नैत्यके नास्त्यनध्यायः' नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता। यथासमय उनका अनुष्ठान निरन्तर होना ही चाहिए। कर्मानुष्ठान का यह अवधारण उसी अवस्था में उपपन्न हो सकता है, जब 'यावज्जीव' वाक्यों में काल (सायं-प्रातः अमावास्या-पूर्णिमासी) को उद्देश कर अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास का विधान माना जाता है। यदि इसके विपरीत अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास को उद्देश करके उक्त वाक्यों में काल (अमावास्या आदि) का विधान

न माना जाय, तो उसके काम्य होने से कामना के न होने पर वह अनित्य होगा; अर्थात् अनुष्ठान उपेक्षित हो जायगा। तब जरामय वाक्य में निर्दिष्ट अनुष्ठान का यावज्जीवन अवधारण अनुपपन्न होगा। इससे ज्ञात होता है, जरामय-वचन यावज्जीविका को कर्त्ता का धर्म माने जाने का प्रयोजक है। यह मुख्य अर्थ गत सूत्रों (२-४) द्वारा कह दिया गया है, उसी में प्रस्तुत सूत्र से जरामय-वाक्य-बोधित प्रयोजक प्रसंग को जोड़ दिया गया है। सूत्रगत 'तु' पद का यही प्रयोजन है।

मान लीजिए, 'यदि यावज्जीव' वाक्यों में काल [अभावास्या आदि] गुण का विधान है, तो काल की कामना से विधि होने के कारण ये काम्य कर्म होंगे। काम्य कर्म अनित्य होते हैं, कामना के अभाव में उनका प्रयोग नहीं होता। इन वाक्यों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा वाक्य उपलब्ध नहीं है, जो अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास यागों को नित्यविधि बतानेवाला हो। ऐसी अवस्था में 'जरामय' वचन नितान्त निरर्थक हो जायगा। इसलिए 'यावज्जीव' वाक्यों को गुणविधि मानना उपयुक्त है ॥५॥

उक्त अर्थ की परिपुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक हेतु प्रस्तुत किया—

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

[च] और यावज्जीविका को कर्म का धर्म मानने पर [विरोधः] विरोध [अपि] भी [पूर्ववत्] पहले के समान प्राप्त होता है।

इसपर भी ध्यान देना आवश्यक है कि पूर्वोक्त अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का—'यावज्जीव' वाक्यों को—गुणविधि मानकर यावज्जीविका को कर्म का धर्म माना जाता है; तो दर्श-पूर्णमास के विकृतियाग सौर्यादि इष्टियों में भी यावज्जीवन अनुष्ठान की प्राप्ति होगी। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—प्रकृति के समान विकृति में क्रिया की जानी चाहिए, इस व्यवस्था के अनुसार दर्श-पूर्णमास के यावज्जीवन अनुष्ठान का विधान सौर्यादि इष्टियों के लिए भी मान्य होगा। परन्तु सब इष्टियों का यावज्जीवन अनुष्ठान किया जाना असक्य है; क्योंकि शास्त्र में इन्हें यावज्जीवन अनुष्ठान के अयोग्य माना गया है, क्योंकि ये काम्य इष्टियाँ हैं। कामना के न होने पर इनका त्याग सम्भव है। इसलिए सौर्यादि इष्टियों का यावज्जीवन अनुष्ठान का विधान शास्त्रविरुद्ध है। फलतः 'यावज्जीव' वाक्यों में यावज्जीवन को कर्म का धर्म न मानकर कर्त्ता का धर्म मानना युक्त है ॥६॥

अधिकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा—

कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥

[कर्तुः] कर्ता के [धर्मनियमात्] धर्मनियम से [तु] तो [कालशास्त्रम्] काल की अवधि का विधायक शास्त्र, अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान का [निमित्तम्] निमित्त—प्रयोजक [स्यात्] है।

कर्ता यजमान आहिताग्नि होकर धर्मानुष्ठान के लिए प्रतिज्ञा करता है—समस्त जीवन अग्निहोत्र दर्श-पूर्णमास धर्मों का नियमपूर्वक यथासमय अनुष्ठान करता रहूँगा। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दशपूर्णमासाम्यां यजेत' यह 'कालशास्त्र' है—काल की अवधि का निर्देश करनेवाला शास्त्र। यह कालावधिनिर्देश किस कार्य के लिए है? इसका प्रयोजन क्या है? उत्तर है, यह अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान के लिए है। धर्मानुष्ठान का यह (जीवनकाल) निमित्त है। जब तक जीवन है, तब तक धर्मानुष्ठान है। जीवन न रहे, तो धर्मानुष्ठान भी न होगा। धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता का यह धर्म है। यावज्जीवन कर्तुर्धर्म है। 'यावज्जीवं' वाक्यों में, यावज्जीवन को उद्देश्य बनाकर—लक्ष्य बनाकर—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का कर्तव्यरूप से विधान किया गया है। जीवन के निमित्त होने पर कर्म-धर्म का विधान किया जाता है। वहाँ प्रत्येक प्रयोग पर कर्म समाप्त हो जाता है। इस स्थिति में व्यपवर्ग—अर्थात् एक कर्म की समाप्ति और अन्य का आरम्भ—भी उपपन्न होता है। फलतः 'यावज्जीवं' कर्तुर्धर्म है, यह निश्चित होता है ॥७॥ (इति यावज्जीविकाग्निहोत्राऽधिकरणम्—१)

(सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताऽधिकरणम्—२)

अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म हैं, यह निश्चित हो जाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या अग्निहोत्र आदि कर्म प्रत्येक शाखा में एक ही है? अथवा शाखाभेद से कर्मभेद है? प्रतीत होता है, शाखाभेद से कर्मभेद होना चाहिए, अन्यथा शाखाभेद व्यर्थ है। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तवचन- प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥

[नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति - निन्दा-अशक्ति-समाप्तवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात्] (१) नाम, (२) रूप, (३) धर्मविशेष, (४) पुनरुक्ति, (५) निन्दा, (६) अशक्ति, (७) समाप्तवचन, (८) प्रायश्चित्त, (९) अन्यार्थदर्शन हेतुओं से [शाखान्तरेषु] भिन्न शाखाओं में [कर्मभेदः] कर्म का भेद [स्यात्] है।

काठक, कालापक, पौष्पलादक, तैत्तिरीय, मन्त्रायणी आदि अनेक शाखा देखी जाती हैं। इनमें सन्देह होता है, एक शाखा में जो अग्निहोत्र आदि कर्म विहित हैं,

क्या शाखान्तर में भी वही कर्म है ? अथवा शाखाभेद से कर्म का भेद है ? निम्नांकित हेतुओं के आधार पर शाखाभेद से कर्म का भेद मानना युक्त होगा—

(१) नामभेद—एक काठक का कर्म है, एक कालापक शाखा का। इस प्रकार शाखा के नामभेद से कर्म का भेद होता है। काठक, कालापक आदि केवल ग्रन्थों के नाम हैं, कर्मों के नहीं,—यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि ये कर्मों के भी नाम हैं। यह काठक अग्निहोत्र है, यह कालापक अग्निहोत्र, आदि व्यवहार शास्त्र एवं लोक में प्रत्यक्ष है।

(२) रूपभेद—इससे कर्मभेद होता है। यह कर्म के स्वरूप का भेद है। एक शाखा में पढ़ा है—‘अग्नीषोमीयमेकादशकपालं’ ‘प्रायच्छन्’—अग्नि-सोम देवता वाला पुरोडाश एकादश कपाल में संस्कृत कर प्रयोग में लाया जाता है। अन्य शाखा में ‘द्वादश कपालं’ पढ़ा जाता है। वह पुरोडाश बारह मूत्पात्रों में संस्कृत किया जाना चाहिए। इससे प्रतिशाखा कर्म का भेद स्पष्ट होता है।

(३) धर्मविशेष—इसका अर्थ है—आचरण में भेद। बृष्टि की कामना से किये जानेवाले याग का नाम ‘कारीरी’ है। कारीरी इष्टि का अध्ययन करने के दिनों में तैत्तिरीय शाखा के छात्र भूमि पर बैठकर भोजन करते हैं; अन्य शाखा-वाले ऐसा आचरण नहीं करते। इसी प्रकार अग्निचयन का अध्ययन करते समय किन्हीं शाखावाले छात्र उपाध्याय के लिए घड़ों में जल भरकर लाते हैं, अन्य शाखावाले ऐसा आचरण नहीं करते। ऐसे ही अश्वमेध का अध्ययन करनेवाले कुछ लोग अश्व के लिए घास लाते हैं, और इसे अपने कार्य में उपकारक होने की अभिलाषा रखते हैं; दूसरे लोग अन्य धर्म का आचरण करते हैं। यदि प्रत्येक शाखा में कर्म एक-समान हों, तो ऐसा आचरणभेद नहीं हो सकता। अतः शाखा-भेद से कर्मभेद मानना युक्त है।

(४) पुनरुक्ति—यदि सब शाखाओं में पढ़ा गया कर्म एक हो, तो एक शाखा में विहित कर्म का शाखान्तर में कथन होना पुनरुक्त होमा। पुनरुक्त वाक्य निरर्थक होता है। शाखाशास्त्र को निरर्थक कहना युक्त न होगा। अतः प्रत्येक शाखा में कर्म का कथन कर्म के भेद का साधक है।

(५) निन्दा—निन्दावचन विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद के बोधक हैं। अनुदित होम = सूर्योदय से पहले किये जानेवाले अग्निहोत्र होम की निन्दा में निम्न सन्दर्भ उपलब्ध है—

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुहति येऽग्निहोत्रम् ।

विदाकीर्त्यमविवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ॥

सवेरे-सवेरे वे भूठ बोलते हैं, जो सूर्य निकलने से पहले अग्निहोत्र होम करते हैं। जो दिन में बोलना चाहिए—‘सूर्यो ज्योतिः’ उसे दिन निकलने से पहले रात

में बोलते हैं, तब इनकी सूर्यज्योति नहीं होती ।

अन्य शाखावाले उदित होम = सूर्योदय के अनन्तर होनेवाले अग्निहोत्र—की निन्दा करते हैं । कहते हैं—

यथाऽतिथये प्रवृत्ताधानमाहुरेयुस्तावृक् तद् यदुदिते जुहति—सूर्योदय के अनन्तर होम करनेवालों का कार्य ऐसा ही है, जैसे घर में आकर लौट गये अतिथि के लिए अन्नप्रदान का प्रयास करना । ये निन्दावचन उसी अवस्था में उपपन्न हो सकते हैं, जब प्रतिशाखा कर्मभेद माना जाय ।

(६) अशक्ति—समस्त शाखाओं में प्रकृति, विकृति, अङ्ग, उपाङ्ग आदि रूप में जो कर्मों का विधान किया गया है, यदि वह अभिन्न है, एक है, तो उसका एकत्र संग्रह करके अनुष्ठान करना किसी भी व्यक्ति की शक्ति से बाहर है । ऐसे अशक्य = अव्यवहार्य कर्म का विधान व्यर्थ होगा । फलतः प्रांतशाखा कर्मभेद मानना युक्त है ।

(७) समाप्तवचन—समान नामवाले कर्म में उसके विभिन्न अंशों पर समाप्ति का कथन कर्म के अभेद का बाधक है । एक शाखावाले कहते हैं—हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त होता है । अन्य शाखावाले समाप्ति अन्यत्र बताते हैं । किसी एक कर्म की समाप्ति प्रक्रिया के दो अवसरों पर नहीं हो सकती । समाप्तिभेद के कथन से कर्म का भेद ज्ञात होता है । एक ही कर्म दो जगह समाप्त हो, यह सम्भव नहीं ।

(८) प्रायश्चित्त—किसी एक शाखावाले अनुदित होम के समय पर न किये जाने की स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान करते हैं । अन्य शाखावाले उदित होम के विषय में ऐसा कहते हैं । कर्म यदि विधि-अनुसार समय पर नहीं किया जाता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का कथन है । प्रायश्चित्त तभी किया जाता है, जब किसी कर्म के अनुष्ठान में कोई न्यूनता या अन्य दोष हो जाय । ऐसी स्थिति—उदित-अनुदित होम आदि को सब शाखाओं में एक मानने पर सम्भव नहीं, क्योंकि सर्वत्र कर्म के अभेद में अग्निहोत्र के उदित और अनुदित दोनों काल विहित होते हैं । तब प्रायश्चित्त क्यों ? इससे ज्ञात होता है, उदित अग्निहोत्र होम भिन्न है और अनुदित अग्निहोत्र होम भिन्न । कर्म का भेद मानने पर अग्निहोत्र के दोनों प्रकारों में—विधि-अनुसार अनुष्ठान करने पर—प्रायश्चित्त का विधान उपपन्न होता है ।

(९) अन्यायदर्शन—इसका तात्पर्य है, किसी एक शाखा या ब्राह्मण में जो बात कही है, अन्य शाखा आदि में उससे भिन्न बात का कहना । वैदिक^१ वाङ्मय

१. द्रष्टव्य—निदानसूत्र, ५।१३।२३ (यु० मी०) । वहाँ पाठ है—'अथापि ब्राह्मणमेव भवति—तेषां ये पुरस्ताद्द्विद्विधाणाः स्युयंशु वेषां गृहपतिरिति ।'

में सन्दर्भ है—‘यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युः, यदि वा एषां गृहपतिः, गृहपतेर्वाऽनु-
सत्रिण इति, स एनमेव बृहत्सामानं ऋतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम् । अथ
यदि अविदीक्षाणाः’—यदि सत्रयाजी गृहपति एवं उसके अनुयायी सब यजमान
पहले से दीक्षित हो चुके हैं, तो वे इस ‘बृहत्सामा’ ऋतु का अनुष्ठान करें; क्योंकि
इनका ‘रथन्तरसामा’ ऋतु अनुष्ठित किया जा चुका है। यदि प्रथम दीक्षित नहीं
हुए हैं, तो रथन्तरसाम का अनुष्ठान करते हैं।

द्वादशाह (बारह दिन में सम्पन्न होनेवाले) सत्र ज्योतिष्टोम के पृष्ठसंज्ञक
स्तोत्र में समुच्चयरूप से रथन्तरसाम और बृहत्साम का प्रयोग होता है। ये दोनों
साम ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। उक्त सन्दर्भ में बताया गया कि सत्रयाजी यजमान
प्रथम दीक्षित है, अथवा अदीक्षित है, इस सत्र के अनुष्ठान का अधिकारी है। यह
एक बात कही गई।

ताण्डक ब्राह्मण में बताया—‘एष वाच प्रथमो यज्ञो यज्ञाना यज्ञ्योतिष्टोमः,
य एतेनानिष्त्वाऽन्याऽन्येन यजेत, गत्तंपत्यमेव तज्जायेत, प्र वा भीयते’—यज्ञों में
प्रथम यज्ञ यही ज्योतिष्टोम है; इससे यजन न करके जो अन्य-अन्य से यजन
करता है, वह गड्ढे में गिर जाने के समान है, अथवा मर जाने के समान। यह
नियम सर्वत्र ज्योतिष्टोम से प्रथम यजन करना स्थिर करता है। यह दूसरी बात
है, अर्थात् पहले कथन से अन्य अर्थ का कथन है। इसके अनुसार अदीक्षित यज-
मान का द्वादशाह सत्र में अनुष्ठान के लिए उपस्थित होना उपपन्न नहीं होता।
इसकी उपपत्ति व सामञ्जस्य के लिए आवश्यक है, प्रत्येक शाखा में कर्म का भेद
माना जाय। इससे ताण्डक शाखा का नियम उसी श्राखावालों के लिए लागू
होगा। तब इन दोनों कथनों में अनुपपत्ति या असामञ्जस्य की कोई आशंका न
रहेगी।

सूत्रकार ने प्रतिशाखा कर्मभेद की सिद्धि के लिए उक्त नौ हेतु प्रस्तुत किये
हैं। परन्तु भाष्यकार शबर स्वामी ने भाष्य में यहाँ पाँच अन्य हेतुओं का कर्मभेद
की सिद्धि के लिए उल्लेख किया है। प्रतीत होता है, सूत्रकार ने ‘अन्यार्थदर्शनम्’
हेतु में इनको अन्तर्हित मानकर पृथक् निर्देश नहीं किया। क्योंकि आगे समाधान-
सूत्रों में समाधान की दृष्टि से इनका उल्लेख है। इसी भावना से भाष्यकार ने
पूर्वपक्षरूप में उनका यहाँ स्पष्ट निर्देश कर दिया है।

(१०) अन्यार्थदर्शन (क)—प्रतिशाखा कर्मभेद का अन्य उपोद्बलक हेतु
है, सुपर्ण अथवा श्येन याग के अग्निचयन-सम्बन्धी कर्मविशेष में ग्यारह यूपों की
स्थापना का अन्तराल-परिमाण, अर्थात् यूपों के अन्तराल की नाप। इस याग में
ग्यारह पशुओं को बाँधने के लिए ग्यारह यूप गाड़े जाते हैं। सुपर्णयाग का अग्नि-
स्थण्डिल (= वेदि) पक्ष फैलाये श्येन की आकृति के समान होता है। उस
स्थण्डिल पर ग्यारह यूप गाड़ने के स्थान और उनके अन्तराल के विषय में वैदिक

वाङ्मय के लेख परस्पर भिन्न हैं, जो प्रतिशाखा कर्मव्य के बाधक हैं।

मंत्रायणी संहिता [३।४।८] में पाठ है—'यत्पक्षसंमिता मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं, पापीयान् स्यात्। अथ यद्वेदिसंमितां मिनोति ज्यायांसं चिनुते ज्यायांसमेव यज्ञक्रतुमुपैति मूयसीं प्रजां मूयसः पशून् मूयोऽन्नाद्यम्।'।

एकादशिनी इष्टि में यज्ञमान यदि फैले पंखों के समानस्थल में यूपों की नाप स्थापित करता है, तो छोटे क्रतु को, छोटी प्रजा को, छोटे पशुओं को, छोटे अन्नाद्य को एवं पाप को प्राप्त होता है। पर यदि वेदि के समानस्थल में यूपों की नाप स्थापित करता है, तो बड़े क्रतु को, बड़ी प्रजा को, बड़े (—बहुत) पशुओं को, पर्याप्त अन्नाद्य को प्राप्त होता है।^१ इस सन्दर्भ में पक्षसंमित मान (—नाप) का निन्दापूर्वक प्रतिषेध कर वेदिसंमित मान को स्तुतिपूर्वक स्वीकारा है। ये म्यारह यूप-स्थापना के परस्पर विरुद्ध लेख, प्रतिशाखा कर्म-भेद के द्योतक हैं।

अन्य शास्त्रावाले पढ़ते हैं—'रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति' [आप० श्रौत० ८।५।१७]—रथ के घुरा की बराबर दूरी पर यूप स्थापित होते हैं। यदि इस विधान को सर्वत्र लागू किया जाता है, तो न पक्षसंमित नाप की—और न वेदिसंमित नाप की—मान्यता रहती है। ये सब लेख उसी अवस्था में उपपन्न व समञ्जस रहते हैं, जब प्रतिशाखा कर्म का भेद माना जाता है।

१. "सुपर्णयाग का अग्निस्थण्डिल पंख फैलाये श्येन के समान होता है। उत्तर-दक्षिण पंखभाग, मध्य में आत्मस्थानीय भाग, पूर्व में चञ्चुस्थान और पश्चिम में पुच्छस्थान होता है। आहवनीय की पूर्वरेखा के मध्य में एक यूप गाड़ा जाता है, और पाँच-पाँच यूप दोनों ओर गाड़े जाते हैं। इन यूपों को कितने स्थान में गाड़ें, इसके लिए प्रथम पक्ष है—उत्तर-दक्षिणस्थ पंखों का फैलाव जितने स्थान में है उतनी बराबर दूरी रखकर गाड़ें। यह पक्ष-सम्मान [= पक्ष बराबर = दक्षिण और उत्तर प्रत्येक ओर चार हाथ और २२ अंगुल (इस पक्षपरिमाण और अगले वेदिपरिमाण के लिए देखें—कारत्या० श्रौत विद्याधर टीका, भूमिका, पृष्ठ ६३) परिमाण] से यूपों का मान है। दूसरा पक्ष है—वेदि का जितना गुंबं दिशा में स्थान है, उसमें बराबर दूरी रखकर यूपों को गाड़ें। चयन में वेदि का परिमाण इस क्रतु में ४० पद = कदम = साढ़े सात पुरुष = सवा छत्तीस हाथ होता है। तीसरा पक्ष है—रथ के जक्ष-परिमाण (= १०४ अंगुल = चार हाथ ८ अंगुल) मध्य दूरी छोड़कर गाड़ना चाहिए। पंख बराबर सम्मान की निन्दा से उसका प्रतिषेध और वेदिसम्मान की स्तुति से उसकी विधि जानी जाती

(११) अन्वार्थदर्शन (ख) — ज्योतिष्ठीम-प्रसंग से किसी शाखा में पाठ है—
 'हे संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते'—स्तोत्रों में प्रयुक्त की गई ऋचाओं में विराट्
 से दो ऋचा अतिरिक्त शेष रह जाती हैं। अन्य शाखावाले कहते हैं—'तिस्रः
 संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते'—स्तोत्रों में प्रयुक्त की गई ऋचाओं में विराट्
 संख्या से तीन ऋचा अतिरिक्त शेष रह जाती हैं। विराट् पद दस संख्या का
 पर्याय है। स्तोत्रों में प्रयुक्त ऋचाओं की संख्या को १० से विभाजित करने पर

है। '...एक विधि का प्रतिषेध और एक विधि का विधान कर्मभेद मानने पर
 सम्भव होता है। '...रथाक्षमाण यूपों का अन्तराल होने पर न पक्षसम्पन्न
 हो सकता है, न वेदिसम्पन्न।

पक्षसम्मित पक्ष में दक्षिणपक्ष = ४ हाथ २२ अंगुल, उत्तर पक्ष =
 ४ हाथ २२ अंगुल, दोनों के मध्य का भाग = ७ हाथ, सब मिलाकर १६
 हाथ २० अंगुल स्थान होता है।

वेदिसम्मित में वेदी का परिमाण २६ हाथ ६ अंगुल कह चुके हैं। ११
 यूपों के मध्य के १० अन्तराल = १० रथाक्षप्रमाण = १०४० अंगुल बराबर
 ४३ हाथ ८ अंगुल होता है। इसके साथ ११ यूपों की मोटाई न्यून से न्यून
 एक वितृति = १२ अंगुल होने पर ५ हाथ १२ अंगुल होगी। अतः ११ यूप
 अन्तराल-सहित ४८ हाथ २० अंगुल लम्बे स्थान में स्थित होंगे। इस प्रकार
 रथाक्षप्रमाण अन्तराल मानने पर न पक्षसम्मित यूप-निखनन उपपन्न होता
 है, और ना ही वेदिसम्मित। कात्यायन श्रौत ८।८।६-७-८ में रथाक्ष-
 अन्तराल वेदिसम्मित और पक्षसम्मित तीनों पक्ष स्वीकार किये हैं।" (यु०
 मी०)।

उक्त टिप्पणी में यह स्पष्ट किया गया कि—सुपर्णयाग के अग्निचयन
 अवसर पर अग्निस्थण्डिल की रचना पंख फैलाये श्येन के समान होती है,
 उसपर एकादश यूपों का निखनन कहाँ होना चाहिए। ये यूप एकादश
 पशुओं को बाँधने के लिए गाड़े जाते हैं, इसलिए सुपर्णयाग के इस अंग का
 नाम एकादशिनी इष्टि कहा जाता है।

देहरादून मण्डल के विकासनगर (पुराना नाम—चूहड़पुर) और
 कालसी यमुना पुल के मध्य—चकरोता को जानेवाले मोटर-मार्ग पर—
 पूर्व की ओर पहाड़ी के समतल-सदृश बलान पर फैली उक्त प्रकार की
 एक वेदि—केन्द्रीय सरकार के गुरातत्त्वानुसन्धान-विभाग द्वारा खुदाई
 कराये जाने पर—उपलब्ध हुई है। लेखक ने स्वयं जाकर उसे देखा है। यह
 खुदाई उस समय विभाग के उच्चपदस्थ कार्यरत श्री रामचन्द्रन् की देखरेख
 में कराई गई थी।

पूर्ण विराट् संख्या से जितनी ऋचा शेष रह जाती हैं, उनकी संख्या एक शाखा के अनुसार दो है, अन्य शाखा के अनुसार तीन। यदि प्रत्येक शाखा में कर्म का अभेद माना जाय तो विरोध होगा। कर्मों का भेद मानने पर एक शाखा के अनुसार किसी ज्योतिष्टोम में दो का, तथा अन्य शाखा के अनुसार किसी में तीन का विराट् पूर्ण संख्या से अतिरिक्त उपपन्न हो जाता है। इसलिए प्रतिशाखा कर्म का भेद मानना उपयुक्त है।

निरुक्त [७।१२] में बताया—‘विराट् विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा ।’ ‘विराट्’ यद् ‘वि’ उपसर्गपूर्वक ‘दीप्ति’ अर्थवाली ‘राजृ’ धातु से निष्पन्न होता है। यह विराट् सम्पूर्णाक्षर है। अक्षर—संख्या के प्रतीक अंक जितने में सम्पूर्ण हो जाते हैं, वह एक विराट् है। अङ्कों के समस्त प्रतीक एक से दस तक पूर्ण हो जाते हैं। एक से नौ तक अङ्क, दसवाँ शून्य है। यह एक विराट् है, एक दशक। यह इसलिए पूर्ण है, क्योंकि इसके आगे संख्या बढ़ाने के लिए फिर दस के आगे १, २, ३ को ही दुहराया जाता है। फिर बीस पर पूरा होनेवाला दूसरा विराट् है, दूसरा दशक, जो दो पर शून्य लगाकर अभिव्यक्त किया जाता है। विभिन्न स्तोत्रों में प्रयुक्त ऋचाओं की संख्या को विराट् (= १० संख्या) से विभाजित करने पर जितने पूर्ण दशक बन जाते हैं, उनसे अतिरिक्त—एक शाखा के अनुसार दो तथा अन्य शाखा के अनुसार तीन ऋचा शेष रह जाती हैं। यही उक्त विरोध का स्वरूप है। इनका विवरण समाधान-सूत्र (२६) में किया जायगा।

(१२) अन्यायदर्शन (ग)—सारस्वत सत्र में सुना जाता है—‘ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति, ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति’^१ जो पुरोडाश से दर्श करनेवाले हैं, वे चुपचाप बैठते हैं; जो सान्नायी हैं, अर्थात् दूध-दही की मिश्रित हवि से दर्श करनेवाले हैं, वे वत्सों (लवारों) को गायों से छूटाते हैं। सारस्वत सत्ररूप सोमयाग है। सत्र निरन्तर किये जाने वाले यज्ञ हैं, जो कम-से-कम वारह दिन, और अधिक सहस्र वर्ष (=दिन) तक चलते हैं। इनमें सत्रह सत्र-याजी व्यक्ति मिलकर अनुष्ठान करते हैं, जिनमें एक यजमान और सोलह ऋत्विक् बनकर अपना-अपना कार्य बाँट लेते हैं। वस्तुतः वे सब यजमान ही होते हैं—कर्म के स्वयं अनुष्ठाता और फल के भागी। सोमयाग में एक यजमान कर्म का अनुष्ठाता और फल का भागी होता है, और सोलह ऋत्विक् दक्षिणा द्वारा नियत काल के लिए क्रीत (खरीदे हुए) के समान होते हैं। सत्र और सोमयाग का यही भेद है। सत्र के अनुष्ठान में उसी का अधिकार है, जिसने पहले सोमयाग किया है। जो सोमयाग करके दर्शपूर्णमास याग करता है, वह

१. द्रष्टव्य—‘उत्सर्गिणामयने श्रूयते—तेषां ये पुरोडाशिनस्ते उपवसन्ति, ये सान्नायिनस्त एतदहर्वत्सान् अपाकुर्वन्ति ।’ सत्या० श्रौत १६।१८२१।

दर्श के अनुष्ठान में दूध-दही की मिश्रित (= सान्नाय) हवि देता है। परन्तु उक्त वाक्यों द्वारा सारस्वत सत्रान्तर्गत दर्श में—सोमयाग किये हुए और न किये हुए—दोनों का अधिकार बताया। यह प्रतिशाखा कर्मभेद मानने पर ही उपपन्न होता है।

(१३) अन्यार्थदर्शन (घ) —अन्य वचन सुने जाते हैं। किसी शाखा में कहा—‘उपहृव्योऽनिरुक्तः, अग्निष्टोमो यज्ञः, रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा’—उपहृव्य नामक यज्ञ—ज्योतिष्टोम का अङ्ग,^१ एक दिन में सम्पन्न होनेवाला सोमयाग है,—यह अनिरुक्त है, अर्थात् इसमें देवता नाम का उच्चारण प्रत्यक्षरूप में न होकर^२ परोक्षरूप से किया जाता है; यह अग्निष्टोम यज्ञ है—अग्निष्टोम संस्थावाला सोमयाग, अर्थात् जिस सोमयाग की संस्था = समाप्ति आग्नेय स्तोम से होती है; यह रथन्तर सामवाला है और इसकी दक्षिणा गहरे भूरे (घूसर) रंग का अश्व है।

अन्यत्र शाखा में कहा—‘उपहृव्योऽनिरुक्तः, उक्थो यज्ञः, बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा’—उपहृव्य अनिरुक्त है, उक्थ संस्थावाला सोमयाग है, अर्थात् इसकी समाप्ति उक्थ-संज्ञक स्तोत्र से होती है, यह बृहत्सामवाला है, और श्वेत अश्व इसकी दक्षिणा है, जिसके ललाट पर सुवर्ण का पत्रा (वक्रं) लगा है।^३

यदि सब शाखाओं में कर्म का भेद ही, तो उपहृव्य सोमयाग के ये दो प्रकार के वर्णन असंगत होंगे। यह स्थिति कर्मभेद मानने पर उपपन्न होती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रतिशाखा कर्म का एकत्व होने पर यहाँ रथन्तरसाम अथवा बृहत्साम का विधान व्यर्थ है, क्योंकि यह उपहृव्य के प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम से—‘प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या’ नियम के अनुसार—प्राप्त है। इससे मी स्पष्ट होता है—प्रतिशाखा कर्म का भेद मानना युक्त है ॥८॥

जिज्ञासापूर्ण विस्तृत पूर्वपक्ष का सर्वसाधारण समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

एकं वा संयोगरूपञ्चोदनाख्याऽविशेषात् ॥९॥

[वा] यह पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है, विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद

१. द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा० १८।१।१, ३, १८॥ कात्या०श्रौत० २२।१।२, ८॥

२. द्रष्टव्य—‘उपहृव्ये देवतानामघेयानि परोक्षं ब्रूयुः स्वस्थानासु’ लाट्या० श्रौत० ८।१।१॥

३. कोई व्याख्याकार सुनहरी टीका (चन्दोवा) वाला अर्थ करते हैं।

नहीं है, प्रत्युत [एकम्] एक—समान हैं कर्म विभिन्न शाखाओं में, [संयोगरूप-
चोदनाख्याऽविशेषात्] कर्म के साथ द्रव्य-देवता-सम्बन्ध के बोधक विधिवाक्यों
तथा उनके नामों की समानता से ।

विभिन्न शाखाओं में कर्म-विधायक वाक्य कर्म के साथ समान द्रव्य और
समान देवता का बोध कराते हैं । कर्मों का नाम भी सर्वत्र समान पाया जाता है ।
इसलिए विभिन्न शाखाओं में कर्म के एकत्व में कोई बाधा नहीं है । शाखा,
संहिता व ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में यज्ञ-कर्म का प्रयोजन अर्थात् फल
सर्वत्र समान उपलब्ध होता है । यज्ञ का रूप द्रव्य और देवता है, उनका उल्लेख
भी सर्वत्र समान है । यज्ञों के नाम—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम,
करीरी आदि भी सर्वत्र समान हैं । तब प्रतिशाखा कर्मभेद का अवकाश कहाँ
रहता है ? यह सभी आक्षेपों का साधारण समाधान है ॥६॥

साधारण समाधान कर सूत्रकार क्रमशः प्रत्येक आक्षेप का समाधान प्रस्तुत
करता है । पहला आक्षेप 'नामभेद' है । समाधान किया—

न नाम्ना स्यादचोदनाऽभिधानत्वात् ॥१०॥

[नाम्ना] काठक, कालापक आदि नाम से [न स्यात्] नहीं होता, कर्मभेद
[अचोदनाऽभिधानत्वात्] चोदना = कर्मों के विधिवाक्यों का अभिधान = कथन
काठक आदि नाम से न होने के कारण ।

काठक, कालापक आदि नाम ग्रन्थों के हैं, कर्मों के नहीं । यह काठक कर्म है,
और यह कालापक कर्म, इत्यादि व्यवहार—उन ग्रन्थों में—इनका वर्णन आदि
होने के कारण होता है । ऐसा नहीं है कि कर्मों का नाम काठक-कालापक आदि
हो, और उनके आधार पर ग्रन्थों को ये नाम दिये गए हों । स्थिति सर्वथा इसके
विपरीत है । मूलतः ये ग्रन्थों के नाम हैं, कर्मों के नहीं । इन सभी विभिन्न
शाखाओं में कर्मों के नाम, द्रव्य, देवता, फल आदि का वर्णन समान होने से
ग्रन्थों के नाम का भेद कर्मों का भेदक नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

उसी अर्थ को प्रकारान्तर से सिद्ध करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

सर्वेषाञ्चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

ग्रन्थ का नाम भिन्न होने से यदि वहाँ प्रतिपादित कर्मों में भेद माना जाता
है, तो ग्रन्थ का नाम एक होने से वहाँ पाठित [सर्वेषाम्] सब कर्मों—अग्निहोत्र,
दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि—का [एककर्म्यम्] एक कर्म होना [स्यात्]
प्राप्त होता है । काठक नाम के एक होने से सबको एक कर्म माना जाय,—यह
इष्ट नहीं । इसलिए ग्रन्थनाम न कर्म के भेद का साधक है, और न अभेद का
साधक ॥११॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥

[कृतकम्] कृतक = अनित्य [च] भी है [अभिधानम्] अभिधान = नाम, काठक, कालापक आदि ।

काठक, कालापक आदि ग्रन्थ नामों का प्रचलन उस समय से प्रारम्भ हुआ, जब कठ, कलाप आदि ऋषियों ने अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रवचन किया, अथवा ग्रन्थरूप में श्रवित किया; उसके अनन्तर ही अग्निहोत्र आदि कर्मों के साथ काठक, कालापक आदि नाम जुड़े। उससे पहले भी अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान बराबर होता था। तब ग्रन्थ-नामभेद से इनमें कोई भेद न था। प्रवचन किए जाने पर भेद माना जाय, यह वास्तविकता के विरुद्ध है। अतः अनेक ऋषियों ने अपने शब्दों में उन्हीं कर्मों का प्रवचन किया है, जो पहले से एक रूप में प्रचलित रहे हैं। इसलिए नामभेद को कर्मभेद का साधक कहना अयुक्त है ॥१२॥

रूपभेद भी कर्मभेद का साधक नहीं; सूत्रकार ने बताया—

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥

[एकत्वे] विभिन्न शाखाओं में पठित कर्म के एक होने पर [अपि] भी, [परम्] अगला—कर्मभेद-साधक हेतु—रूपभेद उपपन्न हो जाता है।

अग्नीषोमीय याग को कहीं 'एकादशकपाल' और कहीं 'द्वादशकपाल' कहा। तात्पर्य है, अग्नीषोमीय यागानुष्ठान के पुरोडाश-द्रव्य को एकादश पात्रों में संस्कृत किया जाय, यह किसी एक शाखा में कहा; अन्यत्र द्वादश पात्रों में पुरोडाश-द्रव्य पकाने का उल्लेख किया। प्रामाणिक ग्रन्थों में ऐसा कथन होने से पात्रों की संख्या में विकल्प मानकर ये कथन उपपन्न हो जाते हैं। सामर्थ्यानुसार चाहे ग्यारह पात्रों में द्रव्य संस्कृत करे, चाहे बारह में, इससे अग्नीषोमीय कर्म में कोई भेद नहीं आता ॥१३॥

कर्मभेद में तीसरा हेतु धर्मभेद कहा। सूत्रकार समाधान करता है—

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥

[विद्यायाम्] विद्याग्रहण के अवसर पर [धर्मशास्त्रम्] विशिष्ट धर्मों के पालन का शासन = विधान आचार्यों ने किया है। उनका कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

भूमि पर बैठकर भोजन करना, जल-भरा घड़ा, एवं घास आदि का लाना, ये सब धर्मविशेष छात्रावस्था में—विभिन्न विद्याओं का अध्ययन करते हुए—

छात्रों द्वारा किए जाने वाले आचरण है। उन-उन अध्ययन की जानेवाली शाखाओं में प्रतिपादित कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। तात्पर्य है, छात्र जिस कर्म का अध्ययन कर रहा है, उस समय का उसका वह आचरण कर्म के अनुष्ठान में उपकारक नहीं होता। अतः छात्रावस्था के ये आचरण कर्मभेद के साधक नहीं कहे जा सकते। ये सब अध्ययन-सम्बन्धी धर्म हैं, यह उन्हीं प्रसंगों में पठित 'अधीयानाः' आदि पदों से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे आचरणों के कर्म का उपकारक होने में कोई प्रामाणिक उल्लेख भी नहीं है ॥१४॥

पुनरुक्त-दोष-निवारण के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—गत चतुर्दश अधिकरण [२१३।२७-२६] में पुनरुक्त-दोष का समाधान अनुवाद मानकर किया है, 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पोर्णमास्यां चाच्युतो भवति' यह विधान कर जो पुनः 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' कहा है, वह पुनरुक्त न होकर आग्नेय में ऐन्द्र हवि 'दधि' का स्तुतिपूर्वक अनुवाद करता है,—यह सिद्धान्त किया है। इसी प्रकार एक शाखा में विहित अग्निहोत्र आदि का शाखान्तर में विधान अनुवाद क्यों न मान लिया जाय ? इससे न पुनरुक्त-दोष की आपत्ति होगी, न कर्मभेद की आशंका रहेगी। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पुनरुक्त-दोष के आंशिक समाधान के रूप में सूत्रित किया—

आग्नेयवत् पुनर्वचनम् ॥१५॥

[आग्नेयवत्] आग्नेय वाक्य के समान है [पुनर्वचनम्] शाखान्तरों में कर्मों का पुनः कथन।

विभिन्न शाखाओं में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनेकत्र जो विधान किया गया है, उस पुनरुक्त अथवा असकृत् कथन का समाधान आग्नेय वाक्य के समाधान के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है, वह कथन पुनरुक्त-दोष न होकर एक शाखा के विधान का अन्यत्र अनुवाद है। इस प्रकार न शाखान्तरों में कर्मभेद की आशंका रहती है, न पुनरुक्त-दोष की।

अनुवाद में फल का निर्देश असंगत हो जाता है, इस भावना से सूत्रकार ने शाखाओं में कर्मों के पुनर्वचन का पूर्ण वास्तविक समाधान किया—

अद्विवचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है, अर्थात् कर्म के पुनर्वचन से कर्म का भेद होता है, यह कथन युक्त नहीं। वस्तुतः [अद्विवचनम्] कर्म का दो प्रकार से शाखान्तरों में कथन नहीं है, [श्रुतिसंयोगाविशेषात्] श्रुति-सम्बन्ध के सर्वत्र समान होने से। तात्पर्य है, जैसा एक शाखा में अग्निहोत्र आदि का विधान है, वैसा ही अन्य शाखाओं में है।

शास्त्रान्तरों में सर्वत्र अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान निश्चित ही पुनरुक्त नहीं है। अपनी-अपनी शाखाओं में एक ही शाखा-प्रवक्ता व्यक्ति ने एक ही अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान किया है। जब एक शाखाध्यायी अन्य शाखा कते पढ़ता है, तो अपनी शाखा में पढ़े अग्निहोत्र-कर्म से वहाँ भी अग्निहोत्र-कर्म में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। उसे उभयत्र शाखाओं में अग्निहोत्र-कर्मविषयक एकत्व की ही बुद्धि उत्पन्न होती है। वह इसी परिणाम पर पहुँचता है कि उन शाखाओं में अग्निहोत्र-कर्म एक ही है।

एक ही अर्थ को विभिन्न स्थानों में जब अनेक व्यक्ति कहते हैं, तो वह पुनरुक्त नहीं होता। चैत्र, मैत्र, विष्णु अपने-अपने घरों में 'गां दोग्धि'—गाय दुह लो' कहते हैं, तो यह पुनरुक्त नहीं है। पर यदि चैत्र, चैत्र का पुत्र, चैत्र की पत्नी, चैत्र का भ्राता अपने ही घर में सद्यः 'गां दोग्धि' कहते हैं, तो यह पुनरुक्त है। इसलिए प्रत्येक शाखा या ब्राह्मण में उन-उन प्रवक्ताओं द्वारा विहित अग्निहोत्र आदि कर्म सर्वत्र एक ही हैं। न यह पुनरुक्त है, न कर्मभेद।

सुबोधिनी वृत्ति में सूत्रपाठ 'अश्रुतिसंयोगविशेषात्' अज्ञात अर्थ का बोधक वाक्य विधिवान्वय कहा जाता है। अश्रुति-संयोग अर्थात् सब शाखाओं में 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' आदि वाक्यों का अज्ञातार्थ के साथ सम्बन्ध समान रूप से होने के कारण ये वाक्य अनुवाद नहीं, सर्वत्र विधिवान्वय हैं ॥१६॥

पुनरुक्ति-आक्षेप का सूत्रकार ने अन्य समाधान किया—

अर्थासन्निधेश्च ॥१७॥

[अर्थासन्निधेः] अध्ययनादि-रूप सन्निधि—सामीप्य के न होने से [च] ही शास्त्रान्तरों में कर्मभेद कहना अयुक्त है।

एक व्यक्ति अनेक शाखागत अर्थों (अग्निहोत्रादि कर्मों) के साथ अध्ययनादि-रूप सामीप्य प्राप्त नहीं कर पाता, उनसे दूर या बञ्चित रह जाता है, तो इससे न शास्त्रान्तरों का आनर्थक्य प्राप्त होता है, और न यह कर्मभेद का स्रोतक है। प्रत्येक शाखा को जानना न जानना अलग बात है, परन्तु 'शाखा' पद स्वयं से इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि वहाँ सर्वत्र अर्थ (अग्निहोत्रादि कर्म) बिसरा हुआ भी एक है, वह पुनरुक्त नहीं। जिस प्रकार एक वृक्ष की शाखा पर जैसे पत्ते, फूल, फल होते हैं, वैसे ही अन्य सब शाखाओं पर होते हैं। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है कि एक ही वृक्ष की एक शाखा पर आम और दूसरी पर निबोली लवंगें। काठक, रैत्तिरीय आदि सब शाखा भी एक वेद-वृक्ष की हैं। इनमें प्रतिपादित अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि अर्थ सर्वत्र समान हैं। किसी भी शाखा से उनका अध्ययन कर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसमें पुनरुक्ति की कल्पना व्यर्थ है। वेद-वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं एवं अवान्तर विभागों का महान्

विस्तार है। उसको आचार्यों ने मुख्य रूप से चरण और शाखा-रूप में विभाजित किया है। ये सब मूल वेद के व्याख्यान हैं। जैसे वृक्ष के तने से प्रथम मुख्य शाखायें फूटती हैं वैसे वेद के सीधे प्रथम व्याख्यान 'चरण' और आगे उनके अवान्तर विभाग—वृक्ष की प्रमुख टहनियों के समान—अन्य शाखायें हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस समस्त का अध्ययन करके ही अग्निहोत्रादि अर्थ की प्राप्ति हो। यह तो मीठी रोटी के समान है, चाहे जिधर से काटो, आस्वाद एक-सा मिलेगा। अग्निहोत्र आदि कर्म भी सब शाखाओं में समान हैं। अध्येता या अनुष्ठाता जहाँ से चाहे, प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि विभिन्न शाखाओं में एक ही विषय पर पाठभेद तथा कहीं यज्ञादि प्रक्रिया में भी भेद पाया जाता है, पर इससे मूलभूत अग्निहोत्रादि कर्म में कोई अन्तर नहीं आता। पाठभेद प्रायः व्याख्यामूलक होते हैं। प्रक्रिया में देशाचार आदि के कारण साधारण भेद सम्भव है। पर इतने से अग्निहोत्रादि कर्म विभिन्न शाखाओं में भिन्न हैं, ऐसा नहीं है। कर्मकत्व सर्वत्र अबाधित रहता है ॥१७॥

आचार्य सूत्रकार ने पुनरुक्ति का अन्य समाधान किया—

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥

[एकम् प्रति] विभिन्न शाखाओं में पठित कर्म, एक उसी शाखा के अध्येता या अनुष्ठाता के लिए [न] नहीं [शिष्यते] कहा गया है, प्रत्युत सबके लिए कहा गया है।

काठक, कालापक, तैत्तिरीय आदि शाखाभेद प्रवक्ता के भेद के कारण हैं, कर्मभेद इसका कारण नहीं है। प्रत्येक प्रवक्ता ने मानव-मात्र की भलाई के लिए वैदिक कर्मों का अपने-अपने समय में उपदेश किया। यदि किसी शाखा में किसी कर्म के अङ्ग का उपदेश है, अन्यत्र अन्य अङ्ग का, तो उनका उभयत्र अध्याहार होना अभीष्ट है। इससे समस्त शाखाओं में कर्म की एकता प्रमाणित होती है। किसी भी शाखा में ऐसा कहीं नहीं लिखा कि यह इतना ही कर्म है, और किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए है। काठक शाखा में जो काठक-शाखाध्येता के लिए है, वह तैत्तिरीय-शाखाध्येता के लिए भी है। इसी प्रकार तैत्तिरीय-शाखागत कर्मोपदेश काठक-शाखाध्येता के लिए भी है। कर्म की पूर्णता के लिए एक-दूसरी शाखा से अङ्गों का परस्पर उपसंहार कर लेना अभीष्ट है। इस प्रकार जो अग्निहोत्र काठक शाखा का है, वही तैत्तिरीय शाखा का है। इनको भिन्न कहनेवाला कोई वाक्य शाखाओं में उपलब्ध नहीं होता। फलतः सब शाखाओं में कहा गया अग्निहोत्र मिलकर एक पूर्ण कर्म है। ऐसे ही अन्य दर्श-पूर्णमास आदि कर्मों के विषय में समझना चाहिए। सूत्र में 'च' पद युक्त्यन्तर का निदेशक है ॥१८॥

समाप्तिवचन-आक्षेप के समाधान में सूत्रकार ने कहा—

समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ॥१६॥

[च] और [समाप्तिवत्] समाप्तिवाला कथन [सम्प्रेक्षा] उत्प्रेक्षामात्र है, कल्पनामूलक ।

एक शाखावाले कहते हैं, हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त होता है; अन्य शाखावाले कहते हैं, हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त नहीं होता; ऐसा कथन उत्प्रेक्षामात्र है । तात्पर्य है, वास्तविक नहीं है । जब कर्म की समाप्ति होने-वाली होती है, कुछ अंश शेष रह जाता है, तब भी कर्म की समाप्ति का कथन व्यवहार में आता है । कर्म की आयुष्-समाप्ति में—बस अब यह समाप्त हुआ ही समझो, मान लो अब यह समाप्त हो गया, अब समाप्त होने में कमी ही क्या है?—आदि व्यवहार प्रायः होता रहता है । यह वास्तविक न होकर उत्प्रेक्षामूलक व काल्पनिक ही समझना चाहिए । समाप्ति के भिन्न अवसर होने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं में एक ही अग्निचयन-कर्म अभीष्ट है ।

यह व्यवहार अशास्त्रीय नहीं है । अग्निष्टोम में आध्वर्यव-कर्म समाप्त होने पर 'अग्निष्टोमः समाप्तः' यह व्यवहार देखा जाता है, यद्यपि आध्वर्यु द्वारा किये गये कर्म के अनन्तर अभी होता द्वारा किया जानेवाला शस्त्र-कर्म अवशिष्ट रहता है । इसी प्रकार अग्निचयन-कर्म में समाप्ति का निर्देश समझना चाहिए । कहीं समाप्ति बताना, कहीं न बताना, अग्निचयन-कर्म के भेद को सिद्ध नहीं करता ॥१६॥

इसके साथ ही सूत्रकार निन्दा आदि आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करता है—

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥

[एकत्वे] विभिन्न शाखाओं में कर्मों के एक होने पर [अपि] भी [पराणि] अमले [निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि] निन्दावचन, अशक्तिवचन, समाप्ति-वचन उपपन्न होते हैं; तब भेद साधक कैसे ?

अग्निहोत्र होम के उदित, अनुदित, समयाध्युषित कालों के प्रसंग से 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति' आदि द्वारा उदित आदि होम की जो निन्दा की गई है, उसकी वास्तविकता इस प्रकार है—

आचार्यों ने अग्निहोत्र होम के तीन काल बताये—उदित, अनुदित, समयाध्युषित । सूर्य उदय हो जाने पर पहला काल है; उस समय नक्षत्रों का दिखाई देना सम्भव नहीं रहता । अनुदित काल वह है, जब नक्षत्र दिखाई देते रहें । तीसरा समयाध्युषित काल इन दोनों के बीच में है—जब नक्षत्र भी दिखाई न दे रहे हों,

और सूर्य भी उदय न हुआ हो। यह काल-विभाजन में अरुणोदय-काल कहाता है।

जो व्यक्ति अग्निहोत्र होम के लिए अग्नि का आधान यह व्रत लेकर करता है कि वह अनुदित काल में होम करेगा, यदि वह अपने व्रत को आलस्य-प्रमादबश भंग करता है, और अनुदित में होम न कर उदित आदि में करता है, उसकी यह निन्दा है। उसने अपने व्रत को तोड़ा है, इससे कर्मानुष्ठान में उसकी अश्रद्धा का भाव ध्वनित होता है; तभी उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है, जिसकी चर्चा अग्रिम सूत्र में की गई है। ये निन्दावचन अग्निहोत्र-कर्म के विषय में नहीं हैं।

इसी प्रकार जो उदित होम का व्रती है, वह अपने व्रत का भंग कर अनुदित आदि में होम करता है, उसकी यह निन्दा है। ऐसे ही अध्युषित काल का व्रती अपने व्रत-नियम को तोड़कर अन्य समय में करता है, उसकी यह निन्दा है। यह निन्दा न पवित्र कर्म अग्निहोत्र की है, और न यह शास्त्रान्तरों में कर्मभेद का कारण है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि व्रती के नियम-भंग की निन्दा द्वारा श्रद्धापूवक नियम-पालन की प्रशंसा में ही इसका तात्पर्य है। अतः यह किसी प्रकार से दोषावह नहीं।

अशक्तवचन भी कर्मभेद का कारण नहीं कहा जा सकता। यदि अशक्त व्यक्ति किसी कार्य को नहीं कर पाता, तो इससे कार्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। असमर्थ व्यक्ति के लिए एक शाखा में विहित कर्म भी सर्वाङ्गपूर्ण रूप में अनुष्ठेय नहीं हो पाते; तब जितना हो पाता है, उतना करना चाहिए। नित्य कर्मों में उतना करना भी अभीष्ट का साधक होता है। काम्य कर्म का सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि कामना की पूर्ति उसी में सम्भव है। परन्तु समर्थ व्यक्ति सब शाखाओं में विहित कर्मों के अनुष्ठान में भी सक्षम रहते हैं। अधिक करने का फल भी अधिक मिलता है। यह स्थिति न कर्मों में किसी न्यूनता को अभिव्यक्त करती है, और न शास्त्रान्तरों में कर्मभेद का कारण है।

समाप्तवचन शास्त्रान्तरों में कर्मभेद का कारण नहीं है, इसका उपपादन गत सूत्र के भाष्य में कर दिया गया है ॥२०॥

निन्दावचन के समाधान में शिष्य जिज्ञासा करता है—उदित-अनुदित होम के विषय में प्रायश्चित्त का विधान होने से कर्मों में न्यूनता व दोष का होना ज्ञात होता है। उदित आदि होम का विधान कर उसमें दोष का कथन परस्पर-विरुद्ध है। इस विरोध का परिहार कर्मभेद मानने पर सम्भव है। इसका समाधान होना चाहिए।

शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप से प्रथम सूत्रित किया—

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

[प्रायश्चित्तम्] उदित, अनुदित होम में प्रायश्चित्त का विधान [निमित्तेन] किसी कारणविशेष से किया गया है। यह प्रायश्चित्त-विधान कर्मभेद का प्रयोजक है।

उदित, अनुदित होम में प्रायश्चित्त का विधान होने से इन कर्मों में त्यूनता आदि दोष का पता लगता है, उसका निवारण शाखान्तर में कर्मभेद मानने पर सम्भव है। यदि विभिन्न शाखाओं में उदित होम आदि एक ही कर्म माना जाता है, तो उसका विधान और प्रतिषेध परस्पर-विरुद्ध हैं। प्रतिशाखा कर्मभेद स्वीकार करने पर विधान अपनी शाखा में मान्य रह जाता है; शाखान्तरगत विरोध अन्य किसी उदितदि होम का हो सकता है ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष का निवारण करता है—प्रायश्चित्त के विधान से शाखान्तरों में कर्मभेद कहना अयुक्त है। [नियोगेन] अपने पूर्वनिर्धारित कर्त्तव्य से [प्रक्रमात्] इधर-उधर हट जाने के कारण प्रायश्चित्त का विधान है, जो शाखान्तरों में एक कर्म मानने पर भी उपपन्न होता है।

पूर्वनिर्धारित कर्त्तव्य का स्पष्टीकरण २०वें सूत्र के भाष्य में कर दिया है। अग्निहोत्र होम के लिए अग्नि-आधान करते समय व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार यह स्वीकार करना होता है कि होम-अनुष्ठान के तीन कालों में से उसे कौन-सा काल अनुकूल रहेगा। उसका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। प्रतिशाखा कर्म का अभेद मानने पर भी कर्म के विधान और प्रतिषेध का सामञ्जस्य बना रहता है। अग्निहोत्र होम सब शाखाओं में कर्म एक है; इसके अनुष्ठान-काल में अनुदित आदि विकल्प हैं। यज्ञ-सम्बन्धी वैकल्पिक पदार्थों में इच्छानुसार कर्त्ता द्वारा कोई एक पक्ष स्वीकार कर लिया जाता है। उसका उल्लंघन ही दोषावह माना गया है।

इस विषय में सम्बल-वाक्य 'ब्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' उदाहरण-रूप में द्रष्टव्य हैं। आचार्यों ने यहाँ विकल्प माना है, चाहे ब्रीहि से यजन करे, चाहे यवों से। जो व्यक्ति कर्मारम्भ में ब्रीहि से यजन करना स्वीकार कर ब्रीहि की अप्राप्ति में यवों से यजन करता है, वह प्रायश्चित्ती होता है। ब्रीहि के अभाव में उसे ब्रीहि के प्रतिनिधि अन्न निवार आदि से होम करना चाहिए; यवों से नहीं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने कर्मारम्भ में यवों से यजन करना स्वीकार किया है, वह यदि यवों की अप्राप्ति में ब्रीहि से यजन करता है, तो वह प्रायश्चित्ती होता है।

यवों की अप्राप्ति में उसे यवों के प्रतिनिधि आरण्य (जंगली) यवों से यजन करना चाहिए। प्रतिनिधि का विधान शास्त्रीय है। इसी के अनुसार उदित होम आदि में प्रायश्चित्त का प्रसंग समझना चाहिए, जो गत (२०वें) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है ॥२२॥

समाप्तवचन के विषय में सूत्रकार ने और अधिक कहा—

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥

[समाप्तिः] समाप्ति-विषयक वचन 'अत्रास्माकमग्निः समाप्तः' इत्यादि [पूर्ववत्त्वात्] पहले से प्रारम्भ हुए होने के कारण, उन कर्मों के [यथाज्ञाते] जैसे प्रारम्भ हुए जात हैं, उसके अनुसार समाप्ति [प्रतीयेत] जाननी चाहिए उन कर्मों की।

समाप्ति सदा प्रारम्भ की अपेक्षा करती है। जिस कर्म के पूरा होने पर समाप्ति का निर्देश है, यह आवश्यक है कि वह कर्म प्रारम्भ होकर अभी तक चालू रहा है। प्रारम्भ होकर चालू रहते जहाँ कर्म पूरा होता है, वहीं समाप्ति का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि यह समाप्ति उसी जाने हुए कर्म की है। समाप्ति-विषयक यह निर्देश कर्मभेद का प्रयोजक नहीं है।

विशेष—समाप्तवचन-आक्षेप का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने दो सूत्र बनाये। दो सूत्र क्यों बनाये गये? इसका समाधान अस्पष्ट रहा है।

आठवें आक्षेप-सूत्र के भाष्य में 'समाप्ति वचन' का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वहाँ दो वाक्य निर्दिष्ट हैं—एक—'अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते'—यहाँ हमारा अग्निचयन-कर्म परिसमाप्त होता है; दूसरा है—'अपरेऽन्यत्र परिसमाप्ति व्यपदिशन्ति'—अन्य शाखावाले समाप्ति का अन्यत्र कथन करते हैं। भाष्यकार ने इस प्रसंग में पहला वाक्य लिखा है—'असमाप्येऽपि समाप्येर्वचनं भवति'—समाप्त न होने पर भी समाप्ति का कथन कर्म में होता है। आक्षेप का मुख्य आधार यही है कि एक ही अग्निचयन-कर्म में किसी शाखावाले कर्म के बीच किसी एक जगह कर्म की समाप्ति कहते हैं, अन्य शाखावाले दूसरी जगह। इस विरोध का सामञ्जस्य कर्मभेद मानने पर सम्भव है।

इसका समाधान सूत्रकार ने १९वें सूत्र में किया। वहाँ भी इस मान्यता के साथ किया है कि कर्म के समाप्त न होने पर भी समाप्ति का कथन हो जाता है। भाष्यकार ने एक वाक्य लिखा—'अन्वारोहेषु मंत्रायणीयानामग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते'—मंत्रायणी शाखावाले अग्निचयन-कर्म की समाप्ति अन्वारोह के अनन्तर मानते हैं। 'अन्वारोह' उन मन्त्रों का नाम है, जो अग्नि-स्थापना के लिए निर्मित स्थण्डिल पर अग्निस्थापना के समय बोले जाते हैं। अग्निचयन-कर्म यहीं समाप्त माना जाता है। दूसरी शाखावाले उस अवसर पर

समाप्ति नहीं मानते। इस रहस्य को किसी व्याख्याता ने स्पष्ट नहीं किया कि अन्य शाखावाले अग्निचयन-कर्म की समाप्ति अन्वारोह पर न मानकर किस अवसर पर मानते हैं ✓

उन्नीसवें सूत्र में सभी व्याख्याताओं ने समाप्तिवचन-आक्षेप का समाधान तर्कमूलक आधार पर किया है। वह तर्क है—यदि मैत्रायणी शाखावालों और अन्य शाखावालों का अग्निचयन-कर्म एक न हो, तो वे 'अस्माकम्' पद का प्रयोग कैसे करेंगे? इस पद का प्रयोग तभी उपपन्न होता है, जब मैत्रायणी शाखावालों के अग्निचयन-कर्म को अन्य शाखावाले भी अपना कर्म मानें। तात्पर्य है अग्निचयन-कर्म सब शाखाओं में एक है, पर उसकी समाप्ति का निर्देश क्रिया के विभिन्न अवसरों पर माना गया है। इससे अग्निचयन-कर्म की—सब शाखाओं में—एकता नष्ट नहीं होती। इस प्रकार उक्त तर्क के आधार पर समाप्तिवचन-आक्षेप का समाधान १६वें सूत्र में किया है।

इस व्यवस्था को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी दिया गया है। उदाहरण है, ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत आध्वर्यव-कर्म की समाप्ति पर ज्योतिष्टोम-कर्म की समाप्ति का निर्देश। प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम का अवान्तर कर्म आध्वर्यव कर्म है। अध्वर्यु द्वारा सम्पन्न किये जाने के कारण इसका उक्त नाम है। इस अवान्तर कर्म के सम्पन्न होने पर प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश है, यद्यपि ज्योतिष्टोम का एक अन्य अवान्तर कर्म किया जाना अभी शेष रहता है। वह है—होता द्वारा किया जानेवाला षस्त्र-कर्म। यहाँ ज्योतिष्टोम के समाप्त न होने पर भी जैसे समाप्ति का निर्देश है, ऐसे ही अग्निचयन-कर्म में समझना चाहिए।

यहाँ इतना और जानना चाहिए, ज्योतिष्टोम में समाप्ति के काल्पनिक और वास्तविक दोनों अवसरों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है; ऐसा उल्लेख अग्निचयन-कर्म के दोनों अवसरों का स्पष्ट नहीं मिलता। अन्वारोह पर मैत्रायणी द्वारा निर्दिष्ट अग्निचयन की समाप्ति वास्तविक है या काल्पनिक? यह सन्देह बना रहता है।

इस प्रकार १६वें सूत्र द्वारा प्रतिपादित समाप्तिवचन के समाधान से प्रस्तुत [२३] सूत्र द्वारा प्रतिपादित समाधान में कुछ अन्तर है। सूत्रकार इस सूत्र द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस प्रकृत कर्म के अनन्तर समाप्तिवचन का निर्देश है, उसी की समाप्ति वहाँ समझनी चाहिए। प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत आध्वर्यव अवान्तर कर्म की समाप्ति पर ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश है। यहाँ ज्योतिष्टोम प्रधान कर्म और आध्वर्यव अवान्तर कर्म दोनों प्रकृत हैं। पर यहाँ वस्तुतः समाप्ति आध्वर्यव कर्म की है, ज्योतिष्टोम की नहीं। तब सान्निध्य से यहाँ मुख्य रूप में आध्वर्यव कर्म की समाप्ति समझनी चाहिए। प्रधान कर्म

होने के कारण ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश औपचारिक है। औपचारिक — अस्थान में निर्दिष्ट भिन्न—समाप्तिवचन शाखान्तरों में कर्मभेद का प्रयोजक नहीं हो सकता। तात्पर्य है, किसी भी कर्म की वास्तविक समाप्ति एक ही अवसर पर होती है; तब समाप्तिवचन-भेद निरस्त हो जाता है, वह कर्मभेद का घटक कैसे सम्भव है ?

फलतः १९वें सूत्र में समाप्तिवचन का तर्कमूलक समाधान आंशिक समाधान है। प्रस्तुत २३वें सूत्र में समाप्तिवचन का पूर्ण वास्तविक समाधान है। यही दोनों सूत्रों के प्रतिपाद्य में अन्तर है। यह समाधान अग्निचयन-कर्म में भी लागू होता है। मंत्रायणी शाखा के अनुसार अन्वारोह के अनन्तर अग्निचयन-कर्म की समाप्ति 'मुख्य समाप्ति' होता सम्भव है। 'यम्भव' पद का प्रयोग इसलिए किया है, क्योंकि अन्य शाखावालों ने अग्निचयन-कर्म की समाप्ति किस अवसर पर मानी है, यह स्पष्ट नहीं है। जहाँ भी कहीं मानी हो, वह औपचारिक हो सकती है। अतः समाप्तिवचन में भेद न रहने से उसकी कर्मभेद-प्रयोजकता भी नष्ट हो जाती है। फलतः शाखान्तरों में अथाथ कर्मक्य सिद्ध होता है। समाप्तिवचन उसमें बाधक नहीं ॥२३॥

क्रमप्राप्त अन्यार्थदर्शन-आक्षेप का समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

**लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्निहि तत्र कर्मचोदना, तस्माद्
द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४॥**

[लिङ्गम्] ज्योतिष्टोम-विषयक प्राथम्य लिङ्ग [अविशिष्टम्] समान है, कर्मभेद और कर्मक्य दोनों पक्षों में, [सर्वशेषत्वात्] सब प्रकार से ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने के कारण। [हि] क्योंकि [तत्र] वहाँ ताण्ड्य ब्राह्मण में [कर्मचोदना] ज्योतिष्टोम कर्म का विधान [न] नहीं है। [तस्मात्] इसलिए 'अथ यदि दिदीक्षाणाः' आदि निर्देश [द्वादशाहस्य] द्वादशाह सत्र के विषय में [आहारव्यपदेशः] सम्पर्क के कथन करनेवाला [स्यात्] है, ऐसा जानना चाहिए।

अन्यार्थदर्शन के प्रसंग से 'दिदीक्षाणाः' आदि वाक्यों के आधार पर द्वादशाह-सत्र में दीक्षित, अदीक्षित, दोनों के अधिकार तथा ज्योतिष्टोम के प्राथम्य को लेकर विरोध की कल्पना से जो प्रतिशाखा-कर्मभेद की स्थापना का प्रयास किया गया, वह युक्त नहीं है। कारण यह है, 'दिदीक्षाणाः' आदि पदों का ज्योतिष्टोम के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। उनका सम्बन्ध द्वादशाह सत्र के साथ है। जो द्वादशाह सत्र से दीक्षित हो चुका है, वह बृहत्सामा ऋतु का अनुष्ठान करे, क्योंकि वह रथन्तरसामा ऋतु का यजन कर चुका है। जो अदीक्षित है, वह रथन्तरसामा ऋतु का अनुष्ठान करे। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, द्वादशाह सत्र में प्रथम रथन्तरसामा ऋतु का यजन होना चाहिए तदनन्तर बृहत्सामा ऋतु का।

‘रथन्तरसामा’ और ‘बृहत्सामा’ क्रतु वे कर्म हैं, जिनकी समाप्ति या पूर्णता यथा-क्रम रथन्तर सामगान एवं बृहत्सामगान द्वारा होती है।

ताण्ड्य ब्राह्मण सामवेद का ब्राह्मण है। सामवेद में ज्योतिष्टोम का विधान नहीं है। उसका विधान यजुर्वेद में है। परन्तु उसके प्राथम्य का कथन सामवेद के ब्राह्मण ताण्ड्य में किया गया है। सामवेद में विधान न होने पर जहाँ भी ज्योतिष्टोम का विधान होगा, वहाँ यह प्राथम्य वचन लागू होगा। सामवेद ब्राह्मण का ‘एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः’ वचन यजुर्वेद-विहित कर्म में लागू हो रहा है; यह स्थिति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि प्रति-शाखा एवं प्रतिब्राह्मण कर्म का एकत्व है, भेद नहीं। यजुर्वेद में विहित ज्योतिष्टोम-कर्म समस्त वैदिक वाङ्मय में एक ही है, शास्त्रान्तर से इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं ॥२४॥

अन्यार्थदर्शन (क)-सूत्रपठित अन्यार्थदर्शन पर आधारित आशंका के पीछे में जो अन्य—कर्मभेद के—उपोद्बलक हेतु उभारे गये हैं, सूत्रकार यथाक्रम उनका समाधान प्रस्तुत करता है—

**द्रव्ये चाचोदितत्वाद् विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्
व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥**

[च] और [द्रव्ये] अग्निचयन-प्रसंग में, पक्षसम्मान का [अचोदि-तत्वात्] विधान न करने से [विधीनाम्] पक्षसम्मान आदि विधियों की यह [अव्यवस्था] अव्यवस्था [स्यात्] हो जाती है। [निर्देशात्] निर्देश—विधि के सामर्थ्य से [व्यवतिष्ठेत] व्यवस्था बन जाती है, अर्थात् अग्निचयनरहित वाचस्तोम आदि क्रतुओं में एकादशिनी दृष्टि का कथन होने से यूप-स्थापना के रक्षाक्षपरि-माण-अन्तराल की व्यवस्था है। [तस्मात्] इसलिए, पक्षसम्मान-विधि का [नित्यानुवादः] नित्य अप्राप्त-रूप अनुवाद [स्यात्] है।

श्येनयाग के अग्निचयन-प्रसंग में पक्षसम्मान आदि का विधान नहीं किया है। वाचस्तोम आदि क्रतुओं में एकादश पशुओं को बाँधने के लिए एकादश यूपों की स्थापना का विधान है। एकादशिनी कर्म इसी का नाम है। यूपों का अन्तराल (मध्य में छूटा स्थान) कितना होना चाहिए? इसी के लिए पक्षसम्मान, वेदिसम्मान आदि का निर्देश है। श्येनयाग के अग्निचयन में उसी का अनुवाद है। अग्निचयन में एक ही यूप की स्थापना की जाती है। पर्याय से ग्यारह पशुओं का उसी में बाँधा जाना आचार्यों ने स्वीकार किया है।

जिज्ञासा है, श्येनयाग के अग्निचयन में पक्षसम्मान आदि का विधान न होने से उसकी प्राप्ति ही यहाँ नहीं है, तब उसका उल्लेख क्यों किया गया? आचार्यों

ने ऐसा माना है कि अप्राप्त का भी अनुवाद—किसी आंशिक प्रसंग को लेकर कथन—हो जाता है। जैसे वाक्य है—‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो न दिवि नान्तरिक्षे’—अग्निचयन न पृथिवी (नग्न भूभाग) पर करना चाहिए, न द्युलोक में, न अन्तरिक्ष में। यहाँ द्युलोक और अन्तरिक्षलोक में अग्निचयन असम्भव होने से प्राप्त हो नहीं है, तो यह निषेध क्यों किया गया? आचार्य ने निर्णय दिया [१२।१८]—सर्वथा अप्राप्त का भी प्रसंगवज प्रतिषेध करने में कोई बाधा नहीं है। नग्न भूभाग पर अग्निचयन-निषेध-प्रसंग में द्यु आदि में भी निषेध कर दिया गया। इसी को नित्य अप्राप्त का अनुवाद कहा जाता है।

इयेनयागीय अग्निचयन-कर्म में एक यूप की स्थापना की जाती है। इसी आंशिक प्रसंग से एकादश यूपस्थापना विषय के पक्षसम्मान एवं वेदिसम्मान-अन्तराल का यहाँ उल्लेख हो गया है, उसका यहाँ वास्तविक उपयोग नहीं है। एक यूप की स्थापना में अन्तराल का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी रूप में यह केवल अप्राप्त का नित्यानुवादमात्र है। पक्षसम्मान की निन्दा और वेदिसम्मान की प्रशंसा अर्थात्वाद है। अग्निचयन में इनके उल्लेख एवं विरोध-रूप असामञ्जस्य के आधार पर इसके समाधान के लिए आक्षेपकर्ता ने जो प्रतिशाखा-कर्मभेद का सुझाव दिया, वह उक्त स्थिति में अनवकाशप्रस्त हो जाता है। ऐसे सुझाव का अवकाश तभी सम्भव था, जब अग्निचयन में पक्षसम्मान का विधान होता है। फलतः प्रतिशाखा-कर्म का अभेद ही मान्य है ॥२५॥

क्रमप्राप्त (११) अन्यार्थ दर्शन (ख)-आक्षेप का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥

[विहितप्रतिषेधात्] अतिरात्र याग में षोडशी पात्र के ग्रहणरूप विधान और अग्रहणरूप प्रतिषेध से [पक्षे] पक्ष में, अर्थात् ग्रहण अथवा अग्रहण पक्ष में तीन या तीन ऋचाओं का [अतिरेकः] विराट् से अतिरेक—अधिक या शेष रह जाना [स्यात्] होता है।

ज्योतिष्टोम के अङ्ग अतिरात्र कर्म के विषय में कहा—‘अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’—अतिरात्र कर्म में षोडशी ग्रह (पात्र) का ग्रहण करता है, अर्थात् उसको सोमरस से भरता है। उसकी आहुति दी जाती है। अन्य वाक्य है—‘नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’—अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करता। दोनों वाक्यों के समानबल होने से अतिरात्र कर्म में षोडशी पात्र के ग्रहण-अग्रहण का विकल्प है, अर्थात् एक पक्ष में षोडशी पात्र को सोमरस से भरकर उसकी आहुति दी जाती है; अन्य अग्रहण-पक्ष में षोडशी पात्र न सोमरस से भरा जाता है, न

आहुति दी जाती है। विधान और प्रतिषेध दोनों समानबल होने से कर्म = आहुति-प्रदान में विकल्प होने के कारण इनमें कोई विरोध नहीं है। फलतः इस स्थिति को प्रतिशाखा-कर्मभेद का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता। यह व्यवस्थित कर्म के एकत्व में भी उपपन्न रहती है।

इस प्रसंग में प्रयुक्त होनेवाली स्तोत्रीय ऋचाओं में दो और तीन का अतिरेक किस प्रकार है? इसका विवरण निम्नलिखित के अनुसार समझना चाहिए :

सोमयाग की सात संस्थाएँ हैं—ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। इनमें उत्तरोत्तर स्तोत्र-संख्या अधिक होती जाती है। प्रस्तुत सूत्र के शाबर भाष्य के अनुसार विवरण इस प्रकार है—

ज्योतिष्टोम संस्था के स्तोत्र—

प्रातः सवन में—त्रिवृद् (त्रिगुण) बहिष्पवमान	$३ \times ३ =$	९
	पञ्चदश आष्य चार =	$१५ \times ४ = ६०$
माध्यन्दिन सवन में—सप्तदश पृष्ठ चार =	$१७ \times ४ =$	६८
	पञ्चदश माध्यन्दिन पवमान एक =	१५
सायं सवन में—सप्तदश आर्भव पवमान एक =		१७
	एकविंश यज्ञायज्ञिय एक =	२१
	<hr/>	
ज्योतिष्टोम की पूर्ण स्तोत्र-संख्या		<hr/> = १६०

उक्थ्य संस्था के स्तोत्र—

ज्योतिष्टोम संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र

उक्थ्य संस्था में होते हैं— = १६०

तृतीय (सायं) सवन में इतना अधिक है—

एकविंश उक्थ्य तीन = $२१ \times ३ = ६३$

उक्थ्य संस्था की स्तोत्र-संख्या =

२५३

षोडशी संस्था के स्तोत्र—

उक्थ्य संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र

षोडशी संस्था में रहते हैं— = २५३

तृतीय सवन में इतना अधिक है—

एकविंश षोडशी एक— = २१

षोडशी संस्था की स्तोत्र-संख्या— =

२७४

अतिरात्र संस्था के स्तोत्र—जब अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण होता है—

षोडशी संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र

अतिरात्र संस्था में रहते हैं—

२७४

पञ्चदश रात्रि पर्याय चार-चार स्तोत्रों

के तीन = $१५ \times ४ \times ३ = १८०$

त्रिवृत् रथन्तर = $३ \times ३ = ९$

षोडशी सहित अतिरात्र की स्तोत्र-संख्या =

४६३

इस प्रकार षोडशी ग्रहण-पक्ष में अतिरात्र संस्था की समस्त स्तोत्रीय संख्या ४६३ होती है। इसको विराट् = १० संख्या से विभाजित कर देने पर ४६ स्तोत्र अतिरिक्त बचे रह जाते हैं। षोडशी के अग्रहण-पक्ष में, अर्थात् जब षोडशी का ग्रहण अतिरात्र संस्था में नहीं किया जाता, तब षोडशी के विशिष्ट २१ स्तोत्र निकालकर अतिरात्र संस्था के ४६३—२१=४४२ शेष रहते हैं। इनको विराट् = १० संख्या से विभाजित कर देने पर २ स्तोत्र शेष बचे रह जाते हैं।

उक्त प्रकार से दो और तीन का अतिरेक स्पष्ट हो जाता है। यह एक नियत व्यवस्था होने से भेदपक्ष में भी अस्वीकार्य नहीं है। अतः इसकी प्रतिशाखा-कर्म-भेद का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता ॥२६॥

कमानुसार (१२) अन्यार्थदर्शन (ग)-आक्षेप का समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

सारस्वते विप्रतिषेधाद् यदेति स्यात् ॥२७॥

[सारस्वते] सारस्वत सत्र में [विप्रतिषेधात्] परस्पर विरोध होने से [यदा-इति] यदा-‘यत्’ पद के प्रयोग द्वारा यह निश्चय [स्यात्] होता है।

आक्षेप-सूत्र (८) की व्याख्या में १२ संख्या पर सारस्वत-सत्र को लक्ष्य कर परस्पर-विरोध का सामञ्जस्य प्रतिशाखा-कर्मभेद मानने के आधार पर बताया है। प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार उसका समाधान करता है—सारस्वत-सत्रविषयक कथन में कोई विरोध नहीं है, इसका निश्चय वहाँ प्रयुक्त ‘यत्’ पद के द्वारा होता है। वहाँ पाठ है—‘ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वार-यन्ति’, यहाँ ‘ये पुरोडाशिनः...ये सान्नायिनः’ यह ‘यत्’ पद का प्रयोग इस बात का निश्चायक है कि इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

विरोध का स्वरूप है—बारह दिन में सम्पन्न होनेवाला सारस्वत-सत्र होम-याग का अङ्ग है। सोमयाग की एक संस्था ज्योतिष्टोम है, जिसके विषय में ब्राह्मणग्रन्थ बताता है—यह प्रथम यज्ञ है, जो ज्योतिष्टोम है। इससे यजन न करके जो अन्य से यजन करता है, वह गर्त में गिरता है।^१ सारस्वतसत्र के अन्तर्गत

१. एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः । य एतेनाग्निष्वाज्येन यजते, गर्तं पतति ।

दर्श-पूर्णमास में 'ये पुरोडाशिनः' इत्यादि वाक्य द्वारा उन दोनों का प्रवेश बताया, जिसने ज्योतिष्टोमादिरूप सोमयाग किया है, और जिसने नहीं किया। न करनेवाले का दर्शपूर्णमास में प्रवेश 'एव वाव प्रथमो यज्ञः' इत्यादि वाक्य के विरुद्ध हो जाता है; क्योंकि यह वाक्य सोमयाग का यजन न किए हुए व्यक्ति का सत्र में प्रवेश निषिद्ध करता है।

सूत्रकार ने समाधान किया—सारस्वत-सत्र द्वादशाह-कर्म है, अर्थात् बारह दिन में पूरा होता है। द्वादशाह-कर्म की सत्र-संज्ञा विकल्प से मानी गई है। जिस पक्ष में वह सत्र-संज्ञक नहीं है, तब पुरोडाशयाजी व्यक्ति भी उसमें प्रवेश पाने का अधिकारी है। परन्तु दूसरे सत्रसंज्ञक पक्ष के रहने या मानने पर वह दर्श-पूर्णमास में अनुष्ठान का अधिकारी नहीं होता। इस तथ्य का निश्चय 'ये पुरोडाशिनः...ये सान्नाय्ययाजिनः' आदि वाक्य में 'यत्' पद के प्रयोग से स्पष्ट होता है। जो पुरोडाशयाजी हैं, वे चुपचाप बैठे रहते हैं। द्वादशाह के असत्र-पक्ष में उनका दर्श-पूर्णमास के अवसर उपस्थित होना अशास्त्रीय नहीं है। अनुष्ठान में सक्रिय भाग न लेना, 'एष वाव प्रथमो यज्ञः' के साथ विरोध को उभरने नहीं देता। जो सान्नाय्ययाजी हैं, वे अनुष्ठान में सक्रिय भाग लेते हैं। यही उक्त वाक्य में स्पष्ट किया है। यहाँ किसी प्रकार के विरोध की स्थिति नहीं है।

सूत्र में 'यदेति' पद का षष्ठे 'यदा-इति' है। 'यदा' पद कालवाचक अव्यय नहीं है, अपितु 'यत्' सर्वनाम पद का तृतीया विभक्ति एकवचन के साथ स्वरूप-निर्देश है। अर्थ होगा—'ये पुरो०' इत्यादि वाक्य में 'यत्' पद के प्रयोग द्वारा जैसा प्रथम सूत्रार्थ में किया है। 'इति' पद विरोध के स्वरूप को हटाकर निश्चय अर्थ का द्योतक है ॥२७॥

उक्त बारह आक्षेपों का समाधान समझने पर शिष्य अन्तिम आक्षेप को लक्ष्य कर दृढ़तापूर्वक जिज्ञासा करता है—उपहव्य नामक कर्म के विषय में शास्त्र द्वारा जो कहा गया है, वह प्रतिशाखा-कर्मभेद मानने पर ही उपपन्न होता है। अधिक स्पष्टता के लिए शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

[उपहव्ये] उपहव्य नामक एकाह-कर्म में रथन्तरसाम और बृहत्साम का [अप्रतिप्रसवः] प्रतिप्रसव—पुनःकथन निष्प्रयोजन है, अनावश्यक है; क्योंकि प्रतिशाखा एक कर्म मानने पर उपहव्य में उसके प्रकृतियाग अग्निष्टोम से बृहत्साम और रथन्तरसाम की विकल्प से प्राप्ति हो ही जाती है। इसका समाधान होना चाहिए ॥२८॥

अन्तिम (१३) अन्यार्थदर्शन (घ)—आक्षेप का समाधान सूत्रकार ने किया—

गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२६॥

[वा] यह पद पूर्वपक्ष के परिहार के लिए है, उपह्वय में बृहद् रथन्तरसामों का पुनःश्रवण निष्प्रयोजन अथवा अनावश्यक नहीं है। अतः [पुनः श्रुतिः] उपह्वय में बृहद्-रथन्तर सामों का पुनःश्रवण [गुणार्था] श्याव अश्व-दक्षिणा एवं श्वेत अश्व-दक्षिणारूप गुण के विधान के लिए है।

जब उपह्वय-कर्म रथन्तर सामवाला होता है, तब उसकी दक्षिणा श्याव अश्व है, तथा जब उपह्वय बृहत्सामवाला होता है, तब उसकी दक्षिणा श्वेत अश्व है। इस गुणविधान के लिए उपह्वय-कर्म में बृहत्साम एवं रथन्तरसाम का पुनः कथन है ॥२६॥

आशेषों के उपयुक्त समाधान के अनन्तर प्रतिशाखा-कर्म के एक होने में सूत्रकार ने अतिरिक्त हेतु प्रस्तुत किया—

प्रत्ययञ्चापि दर्शयति ॥३०॥

[प्रत्ययम्] सब शाखाओं में कर्म एक है, इस प्रत्यय = जानकारी को [चापि] भी [दर्शयति] आम्नाय दिखाता है—बतलाता है।

वैदिक वाङ्मय का परस्पर व्यवहार अर्थात् कर्मविषयक विवरण इस तथ्य का बोध कराता है कि सब शाखाओं में सोमयाग अथवा ज्योतिष्टोम आदि पदों में कहा गया कर्म एक है। तात्पर्य है—विभिन्न शाखाओं में सोमयाग पद से कहा गया कर्म सर्वत्र एक है। इसीप्रकार ज्योतिष्टोम-कर्म सर्वत्र एक है। अग्निहोत्र आदि अन्य सब कर्मों के विषय में भी यही सम्भ्रमना चाहिए। इसी कारण वैदिक वाङ्मय में यह देखा जाता है कि एक शाखा में किसी एक कर्म का विधान किया जाता है और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान। यह स्थिति सब शाखाओं में कर्म के एकत्व को सिद्ध करती है। जहाँ कर्म का कथन नहीं, वहाँ अन्य शाखा से कर्म का उपसंहार कर लिया जाता है; जहाँ गुण का विधान नहीं, वहाँ अन्य शाखा से गुण का उपसंहार हो जाता है। जहाँ दोनों का विधान है, वह सभी अन्य शाखाओं को मान्य होता है। तात्पर्य है, कर्म का कोई अङ्ग यदि किसी शाखा में पठित नहीं है, तो जहाँ पठित है, वहाँ से उसकी पूरति कर लेनी चाहिए। जैसे मैत्रायणी^१ शाखा में समित् आदि पाँच प्रयाज पठित नहीं हैं^२, परन्तु उनके गुण

१. 'चापि' यह निपात समुदाय-समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। 'चापीति निपात-समुदाय उवतसमुच्चये' (कृत्तुहल वृत्ति), यु० मी०।

२. मैत्रायणी संहिता, १।४।१२॥

३. पाँच प्रयाज याग हैं—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हि-यंजति, स्वाहाकारं यजति।

वहाँ सुने जाने हैं—'ऋतवो वै प्रयाजाः'—निश्चय ही प्रयाज ऋतुएँ हैं। 'समानत्र होतव्याः'—यथास्थान बैठकर प्रयाज होम किए जाने चाहिए, आगे-पीछे हटना नहीं चाहिए। यहाँ केवल गुण-विधान है; जिस शाखा में प्रयाज-कर्म का विधान है, उसका यहाँ उपसंहार कर लेना चाहिए। इस प्रकार सब शाखाओं में कर्म का एकत्व सिद्ध होता है ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—विभिन्न शाखाओं में कर्मों के अङ्गों का पाठक्रम एक-दूसरे से भिन्न है। उसके अनुरार कर्मानुष्ठान का क्रम होने पर कर्म का एकत्व सम्भव नहीं। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूचित किया—

**अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमेकस्यां
व्यवतिष्ठेत ॥३१॥**

[अपि वा] 'अपि वा' निपात-समुच्चय सब शाखाओं में जात कर्मैकत्व के प्रतिषेध के लिए है। तात्पर्य है, सब शाखाओं में जाना गया कर्म एक नहीं है, [क्रमसंयोगात्] विभिन्न शाखाओं में विहित कर्मों व तत्सम्बन्धी अङ्गों के क्रम का संयोग-सम्बन्ध उसी शाखा से [व्यवतिष्ठेत] व्यवस्थित होगा। शाखान्तरों के साथ उनका कोई सम्बन्ध न होगा।

विभिन्न शाखाओं में कर्मों व अङ्गों का पाठ-क्रम परस्पर भिन्न देखा जाता है। सर्वत्र समान नहीं है। कर्मों का अनुष्ठान उसी क्रम से होना उचित है। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो पाठक्रम टूट जाता है, जो युक्त नहीं। ऐसी स्थिति में प्रतिशाखा-पाठक्रम के अनुसार कर्मानुष्ठान किए जाने से कर्म का एकत्व खण्डित हो जाता है। जो क्रम जिस शाखा में पठित है, वह वहीं व्यवस्थित माना जाना चाहिए। शाखान्तरों में उपसंहार सम्भव नहीं ॥३१॥

जिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

**विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद् विधीनां
सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥**

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष के परिहार के लिए है; विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद नहीं है। [विरोधिना] विरोधी क्रम के साथ [असंयोगात्] वाक्यविहित कर्म का सम्बन्ध न होने से [ऐककर्म्ये] विभिन्न शाखाओं में कर्म की एकता का बोध हो जाने पर [विधीनाम्] सर्वशाखा-पठित अङ्गविधियों के [तत्संयोगात्] उस कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण [सर्वकर्मप्रत्ययः] सब शाखाओं में विहित अङ्ग कर्मों के साथ सम्बन्ध की जानकारी [स्यात्] हो जाती है।

१. अत्र 'शाखायां' इत्यधिकः पाठः। सुबोधिनी वृत्ति।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, र्शं-पूर्णमासान्यां यजेत, वाजपेयेन यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से बोधित कर्मों का एकत्व सब शाखाओं-ब्राह्मणों आदि में समान रूप से उपलब्ध है; न इनमें कहीं कोई भेद है, न विरोध। प्रतिशाखा-कर्म के अभेद का यह मूल आधार है। यदि कहीं किसी शाखा आदि में किसी कर्म का कोई अङ्ग विशेष शाखान्तर से पाठक्रमभेद आदि के कारण भिन्न प्रतीत होता है, तो यह भेद मुख्य कर्म—अर्थात् प्रकृतिभूत कर्म—के भेद में प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि शाखान्तरों में विहित मुख्य कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तात्पर्य है, प्रकृतिभूत याग-कर्म अपने रूप में सर्वत्र अक्षुण्ण बना रहता है। उस शाखा का अनुयायी प्रकृतियाग का अनुष्ठान उसी अङ्ग के साथ कर सकता है, जो उसकी शाखा में पठित है।

कर्म का अनुष्ठान अनुष्ठाता के सामर्थ्य पर अवलम्बित है। यदि वह समर्थ है, तो अपनी शाखा में अपठित कर्मों का शाखान्तर से उपसंहार कर अनुष्ठान करने में किसी तरह की कोई बाधा नहीं है। असमर्थ होने पर केवल स्वशाखा-पठित कर्म का अनुष्ठान करे। ऐसी व्यवस्था शास्त्रानुसार प्रामाणिक आचार्यों ने की है। यह स्थिति सब शाखाओं में कर्म की एकता को स्पष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त अन्य व्यवस्था है—जब कोई विधिवाक्य समानबल होते हैं, तब वहाँ विकल्प माना जाता है। वह न विरोध है, न कर्म के भेद का घटक। दोनों में से किसी एक का—अपने सामर्थ्य व स्वेच्छानुसार—अनुष्ठान किया जा सकता है। इसमें कर्म की पूर्णता सम्पन्न होती है; न वहाँ कर्मविषयक किसी विकार की आशंका है, न किसी न्यूनता की। कर्म का एकत्व सर्वत्र निर्बाध बना रहता है ॥३२॥ (इति सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताऽधिकरणम्—२)।

इति श्री पूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवी - गर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत

'छाता' - वासि श्री गुरुवरकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-

विद्योदयेन, बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत पहासूपकण्ठ 'बनैल-

ग्रामाभिजनेन साम्प्रतं राजियाबाद नगर निवा-

सिना विद्यावाचस्पतिना उदयवीर

शास्त्रिणा' समुन्नीते जैमिनीय

मीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये

द्वितीयाध्यायस्थ चतुर्थः पादः ।

समाप्तश्चायं नानाकर्मलक्षणो द्वितीयाध्यायः ॥

खवेदक्षनेत्रमिते वंक्रमे वत्सरे शुभे ।

भाद्रमासाऽसिते पक्षे चतुर्बुध्यां तिथौ तथा ॥

समाप्तिमावाबध्यायो द्वितीयो भौषधासरे ।

प्रीयन्तां तेन पुरवः पूज्याश्च पितृदेवताः ॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

(प्रतिज्ञाऽधिकरणम्—१)

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार गत अध्याय में कर्म-भेद के छह प्रयोजक—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया (=प्रकरण), नामधेय (=संज्ञा) के आधार पर कर्मविषयक विवेचन प्रस्तुत किया गया, तथा उनके अपवाद एवं सब शास्त्रांशों में कर्म की एकता का उपपादन सम्पन्न हुआ। अब शेष का विवरण प्रस्तुत करने के लिए तृतीय अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, जिसका प्रथम सूत्र है—

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥

[अथ] नानाकर्मलक्षण के अनन्तर [अतः] यहाँ से अवसरप्राप्त [शेष-लक्षणम्] शेष का लक्षण निरूपण करेंगे।

कर्म के भेदाभेद को प्रकट करनेवाले लक्षणों—प्रमाणों का प्रतिपादन हो चुका है। अब शेष का लक्षण निरूपित किया जायगा। शेष क्या है? किस कारण वह शेष कहा जाता है? उसका विनियोग—शास्त्र में व्यवहार—किस प्रकार होता है? विनियोग के कारण श्रुति आदि हैं, इन सबका विवरण प्रस्तुत किया जायगा। श्रुति आदि प्रमाणों में कौन बलवान्—अधिक प्रामाणिक तथा कौन निर्बल—न्यून प्रामाणिक है, इसके विवेचन के साथ अन्य प्रासंगिक विषयों का उपयोगी उपपादन किया जायगा ॥१॥ (इति प्रतिज्ञाऽधिकरणम्—१)।

(शेषलक्षणाऽधिकरणम्—२)

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार सूत्रकार ने शेष का लक्षण प्रस्तुत किया—

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

[शेषः] शेष—अङ्ग अथवा अप्रधान कहा जाता है, [परार्थत्वात्] दूसरे के लिए होने से; उसका अस्तित्व अन्य = प्रधान के लिए होता है।

'शेष' सम्बन्धी पद है। मीमांसाशास्त्र में यह पद 'अङ्ग' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोई भी शेष या अङ्गभूत कार्य अपने शेषी अथवा अङ्गी के लिए होता है। इन दोनों के सम्बन्ध को 'शेषशेषिभाव' अथवा 'अङ्गाङ्गिभाव' कहा जाता है। अनेक अङ्गों के सहयोग से अङ्गी का कलेवर पूर्ण अथवा सम्पन्न होता है, इसी भावना से अङ्गी प्रवात और अङ्ग अप्रघात है। सब अङ्ग मिलकर अङ्गी को पूर्ण अस्तित्व में लाते हैं, इसीलिये अङ्ग परार्थ हैं, अङ्गी के लिए है,—यह कहा जाता है। जो सर्वथा अन्य के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला हो, वह शेष है; इसको स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार शबरस्वामी ने 'गर्भदास' का उदाहरण दिया है। दास का पुत्र गर्भ में आते ही स्वामी के निमित्त अपने जीवन को सर्वोत्तमा अर्पण कर देने के लिए बाधित होता है। इसी प्रकार याग आदि कार्य में जो क्रिया पूर्णरूप से केवल यागादि-सम्पादन में उपयोगी है, उपकारक है, वह मीमांसा में 'शेष' पदवाच्य है।^१

१. "गर्भदास—जब तक भारत में वैदिक व्यवस्था चलती रही, तब तक यहाँ दासप्रथा नहीं थी। शूद्रों को भी सभी मानवाधिकार प्राप्त थे, क्योंकि वैदिक धर्म की घोषणा है—'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' [महा० शान्ति० २०६।२०], अर्थात् मानव से श्रेष्ठ इस संसार में कोई नहीं है। मानवता के नाते ही वेद में स्पष्ट आदेश है—'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय' [ऋ० ५।६०।५], अर्थात् मानवों में न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन; सब भाई-भाई हैं और मिलकर अपने सौभाग्य के लिए आगे बढ़ते हैं। उत्तरकाल में जब धनधान्य ये समर्थ व्यक्ति मद-मोह-लोभ-अहंकार के वशीभूत हो गया, तो उसने अपने से हीन सामर्थ्यवालों पर अपना आधिपत्य जमाया और अन्त में धनहीन व्यक्तियों को अपना दास (=गुलाम) बनाया। इस जघन्य प्रथा की यहाँ तक प्रवृत्ति हुई कि दास-दासी की सन्तानें भी दास-दासी माने जाते रहे। भाष्यकार के समय यह जघन्य प्रथा अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, यह गर्भदास शब्द से ही स्पष्ट है। वैदिक काल में शूद्रवर्ग विविध कार्य करनेहारे कर्मकर तो होते थे, परन्तु दास नहीं माने जाते थे। ऋत्विक् जो ब्राह्मण होता है वह भी दक्षिणा द्वारा यजमान से क्रीत होने से कर्मकर ही होता है। 'स्वामी गर्भदास के योग-क्षेम की व्यवस्था भी इसलिए करता है कि यदि वह स्वस्थ और बलवान् रहेगा, तो मेरा अधिक कार्य करेगा। गर्भदास के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित होकर स्वामी उसका ध्यान नहीं रखता है। इस प्रकार गर्भदास के प्रति उपकार में भी स्वामी का अपना ही स्वार्थ होता है।' (यु० मी०)।

२. इसके उदाहरण अग्रिम सूत्रों में यथावसर दिए गए हैं।

यह कहना उचित नहीं कि कभी प्रधानभूत भी अन्य के लिए उपकारक होता है। जैसे प्रधानभूत गुरु शिष्यों को विद्वान् और दिनमशील बनाने के लिए प्रयत्न करता है, इसी प्रकार प्रधानभूत स्वामी को—दास के जीवन-निर्वाह के लिए धनादि व्यय द्वारा—दासनिमित्त कर्म करनेवाला कहा जा सकता है। इस कथन में अनीचित्य इसी कारण है कि स्वामी दास के लिए जो धनादि व्यय करता है, वह पूर्णरूप से अपने स्वार्थ की भावना से करता है, जिससे कि दास स्वस्थ व बलवान् रहकर उसकी अधिकाधिक सेवा में संलग्न रह सके। गुरु-शिष्य-गाव में भी गुरु के आंशिक स्वार्थ की कल्पना भी निराधार नहीं है। इसी प्रकार मीमांसा में ब्रह्मिप्रोक्षण आदि अङ्ग सर्वात्मना याग के लिए होते हैं। याग प्रधान है, शेषी है, अङ्गी है। यहाँ शेष वही है, जो अत्यन्त परार्थ है।

यह प्रथम [मी० २।१।७] निर्देश किया जा चुका है कि जो वाक्यगत क्रिया-पद द्रव्य के संस्कार व गुण आदि के विधायक हैं, वे उतने ही दृष्ट प्रयोजन का बोध कराते हैं; 'अपूर्व' के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार के समस्त आख्यात = क्रियापद अङ्गभूत कर्म के विधायक होते हैं। इस शास्त्र में शेष का यही लक्षण है। इसके अन्तर्गत सब प्रकार के शेष आ जाते हैं। तात्पर्य है, जिस कर्म का 'अपूर्व' के साथ किसी प्रकार का कोई सीधा सम्बन्ध न हो, वह शेष अथवा अङ्गभूत कर्म माना जाता है ॥२॥ (इति शेषलक्षणाऽधिकरणम्—२)।

(शेषलक्षणाऽधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—शेष लक्षण के अनन्तर यह स्पष्ट होना चाहिए कि शेष के लक्ष्य प्रदेश कौन है? सूत्रकार ने बादरि आचार्य के मुख से वह अर्थ स्पष्ट कराया—

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥

[बादरिः] बादरि आचार्य [द्रव्यगुणसंस्कारेषु] द्रव्य, गुण और संस्कार में शेषत्व = परार्थता मानता है।

बादरि आचार्य का कहना है कि 'शेष' पद का व्यवहार द्रव्य, गुण और संस्कार विषय में होता है, अर्थात् द्रव्य, गुण, संस्कार शेष के लक्ष्य हैं, क्षेत्र हैं। द्रव्य, गुण और संस्कार परार्थ हैं, अन्य के लिए हैं। इसलिए वे 'शेष' पद से व्यवहृत होते हैं। वे अन्य कौन हैं जिसके लिए ये हैं? वे हैं—याग, फल और अनुष्ठाता पुरुष। ये शेष = अङ्ग नहीं हैं; प्रत्युत शेषी = अङ्गी हैं। मीमांसावर्णित समस्त क्रियाकलाप में जो कुछ अनुष्ठेय होता है, वह सब इन्हीं के लिए होता है।

द्रव्य—ब्रह्मि, यव, आज्य आदि हैं, तथा अन्य विविध प्रकार की सामग्री, जो याग-सम्पादन के लिए आहित अग्नि में आहुत की जाती है। ये सब याग के

लिए हैं, इनके बिना याग सम्पन्न नहीं होता। उसकी सिद्धि के लिए द्रव्य अपेक्षित होता है; इसलिए द्रव्य याग आदि क्रिया के लिए है, यह स्पष्ट होता है।

गुण—ब्रीहि के श्वेत आदि रूप गुण हैं। ब्रीहि लाल, घूसर (मटमैला जैसा) आदि कई रूप का होता है। याग के लिए शुक्लरूप ब्रीहि प्रशस्त माना जाता है। शुक्ल गुण उस विशिष्ट द्रव्य को लक्षित करता है, जो क्रिया का साधन है। इसलिए वह गुण भी द्रव्य-प्रस्तुति द्वारा यागादि क्रिया का उपकारक है। फलतः उसी के लिए होने के कारण वह शेष है।

संस्कार—वह है, जिसके निष्पन्न हो जाने पर द्रव्य किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी हो पाता है। ब्रीहि का प्रोक्षण—जल से धोकर साफ करना, मिट्टी-धूल-कूड़ा आदि उसमें न रहे, फिर उसका अवहनन = कूटना, छड़ना आदि, जिससे तुष = छिलका अलग हो जाय, शुद्ध चावल निकल आये; यह ब्रीहि का संस्कार है। इससे वह याग के लिए उपयोगी बन जाता है। यह संस्कार उक्त रूप में याग के लिए द्रव्य के प्रस्तुतीकरण द्वारा याग का उपकारक है। अन्य सामग्री में छुहारा, गोला, दाख आदि मेवा कौड़ों के खाये न हों, उनमें कहीं मँल-जाला आदि लगा न हो, जल आदि से धोकर उन्हें साफ-स्वच्छ कर लेना उनका संस्कार है। यह द्रव्य को यागोपयोगी बनाकर याग का उपकारक होने से शेष है। इसी प्रकार आज्य = घृत को तपाकर छानना, अच्छी तरह देख लेना, उसमें कोई अन्य वस्तु या कीट आदि न गिर गया हो, यह आज्य का संस्कार है। पिघलाये हुए घी का नाम 'आज्य' है। इस रूप में यह याग का उपकारक है, अतः शेष पदार्थ की सीमा में आता है।

याग मुख्य कर्तव्य है, पुरुष उसका अनुष्ठाता है, तथा याग सम्पन्न हो जाने पर फल का भोक्ता है। ये अन्य किसी के लिए नहीं होते, प्रत्युत अन्य संभार (तैयारियाँ) इन्हीं के लिए होते हैं; इसलिए ये किसी के शेष नहीं। ये शेषी या अङ्गी कहे जाते हैं। फलतः परार्थता या शेषत्व द्रव्य, गुण, संस्कार में ही है, ऐसा बादरि आचार्य का विचार है ॥३॥

बादरि आचार्य के उक्त विचार में आचार्य जैमिनि ने सुभाव प्रस्तुत किया—

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

[कर्माणि] याग आदि कर्म [अपि] भी [फलार्थत्वात्] फल के लिए होने के कारण शेषभूत सम्भव है, यह [जैमिनिः] जैमिनि आचार्य का कहना है।

१. 'आज्य' पद का 'अजा' से सम्बन्ध जोड़ना नितान्त अशास्त्रीय है। अजा-दुग्ध से सम्पन्न घृत का याग के लिए प्रयोग होने में कोई प्रमाण नहीं है। गोघृत के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं।

शेष पद का व्यवहार्य अर्थ बताने के लिए जिस पद्धति का आश्रय आचार्य बादरि ने लिया, उसके अनुसार याग आदि भी शेषभूत माने जा सकते हैं। जैसे ब्रीहि आदि द्रव्य याग के लिए होने के कारण शेषभूत हैं, वैसे ही याग आदि कर्म भी अपूर्व द्वारा स्वर्ग आदि फल के लिए होने के कारण शेषभूत क्यों न माने जायें ? जैसे ब्रीहि आदि द्रव्य के बिना याग सम्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार याग के बिना स्वर्ग सम्पन्न नहीं होता; अतः याग स्वर्गादि फल का शेष है।

प्रायः समस्त याग कामनामूलक होते हैं। उस कामना की सम्पन्नता याग के बिना सम्भव नहीं। जो अग्निहोत्र आदि कामनारहित नित्यकर्म माने जाते हैं, उनके अनुष्ठान का भी प्रत्यवाय—परिहार^१ फल है। वह अग्निहोत्र आदि कर्म के बिना सम्भव नहीं। अतः सभी कर्म भी शेष के पेटे में आ जाते हैं। अतः बादरि आचार्य का कथन चिन्तनीय है ॥४॥

शेष पद के व्यवहार्य अर्थ को खोजने का यह क्रम फल पर समाप्त न होकर आगे भी चलता है। सूत्रकार ने कहा—

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

[फलम्] स्वर्ग आदि फल [च] भी शेषभूत सम्भव है, [पुरुषार्थत्वात्] पुरुष के लिए होने के कारण।

शास्त्र में स्वर्ग आदि फल का उपदेश पुरुष के लिए है। स्वर्गफल की कामना पुरुष को होती है—मुझे स्वर्ग प्राप्त हो। फलप्राप्ति की कामना करनेवाले पुरुष के लिए स्वर्गफल-साधन याग का विधान है। जो पुरुष याग का अनुष्ठाता है, याग से होनेवाला फल उसी को प्राप्त होता है। अतः फल पुरुष के लिए है, यह स्पष्ट होता है। तब फल भी शेष के पेटे में आ जाता है।

अनुष्ठाता पुरुष के लिए फल की प्राप्ति-निमित्त ही याग का अनुष्ठान किया जाता है। ऐसा समझना कि याग सम्पन्न हो जाने पर फल स्वतः प्राप्त हो जाता है, ठीक नहीं; क्योंकि स्वयं 'फल' यह पद इस तथ्य को स्पष्ट कर रहा है कि किसी के प्रयोजन को पूरा करने के लिए अपने उपयुक्त कारणों से इसे उत्पन्न किया गया है। याग उसका साधन है, इसी रूप में पुरुष के लिए फल-प्राप्ति-निमित्त याग का विधान है। केवल स्वर्ग के आत्म-लाभ के लिए याग का विधान नहीं है। तात्पर्य है, स्वर्ग के अपने रूप में उभर आने मात्र के लिए याग का विधान

१. अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का अनुष्ठान न करने में आचार्यों ने प्रत्यवाय—न्यूनता दोष, पाप अथवा अपराध बताया है। अनुष्ठान करते रहने पर वह प्रत्यवाय नहीं हो पाता, अतः नित्य कर्मानुष्ठान का फल—प्रत्यवाय परिहार—युक्त है।

हो, ऐसी बात नहीं है। याग स्वर्ग का साधन है, तथा स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के द्वारा अनुष्ठित होने के कारण यागसाध्य फल साध्यता पुरुष के लिए है, यह स्पष्ट होता है ॥१॥

इसी क्रम को सूत्रकार जैमिनि ने आगे बढ़ाया—

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

[पुरुषः] पुरुष [च] भी [कर्मार्थत्वात्] कर्म के लिए होने के कारण कर्म के प्रति शेषभूत है।

पुरुष को कर्म के प्रति शेषभूत बताने में सूत्रकार का 'कर्म' पद से तात्पर्य सामान्य याग आदि कर्म नहीं है, प्रत्युत विशेष याग से तात्पर्य है। सोमयागों में सदो मण्डप के बीच गूलर वृक्ष की एक शाखा गाड़ी जाती है। उसका स्पर्श करने के अनन्तर सामगानकर्त्ता उससे पीठ लगाकर साम का गान करता है। उस विषय में यह प्रश्न उठने पर कि गूलर की शाखा कितनी ऊँची गाड़ी जाय ? इसका समाधान किया गया है—'यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति'—गूलर शाखा की ऊँचाई यजमान पुरुष के बराबर होनी चाहिए। यहाँ यजमान का उप-योग गूलर शाखा की ऊँचाई नापने के लिए किया गया है, अतः यजमान पुरुष भी इस कर्म के प्रति शेषभूत है।

ऐसी स्थिति में बादरि आचार्य का यह कथन कि शेष पद के अर्थ का क्षेत्र—द्रव्य, गुण, संस्कार, इन तीन में सीमित है—सन्देह में पड़ जाता है। क्योंकि द्रव्य, गुण, संस्कार जिन याग, फल, पुरुष के प्रति शेषभूत बताये गये, वे याग आदि भी अन्य-अन्य के प्रति शेषभूत हैं, यह गत सूत्रों में सूत्रकार ने बताया। इस सब चर्चा से सूत्रकार का तात्पर्य 'परार्थ' हेतु में कुछ सुभावा देना प्रतीत होता है। सुभावा है—जो कर्म केवल परार्थ हैं, वे शेष पद के क्षेत्र में आते हैं। तात्पर्य है, जो कर्म केवल अन्य के लिए शेषभूत हैं, पर उनके लिए अन्य कोई शेषभूत नहीं हैं, ऐसे कर्म ही शेष के क्षेत्र में आते हैं। याग, फल, पुरुष—द्रव्यादि के लिए—शेषी हैं, पर द्रव्य, गुण, संस्कार किसी के भी प्रति शेषी नहीं हैं; वे नियमित रूप से 'शेष' मात्र हैं। इसी आधार पर बादरि आचार्य ने उनका नाम लेकर शेष पद के अर्थ की अवधारणा की है। भाष्यकार शबर स्वामी ने जैमिनीय सूत्रों के प्राचीन व्याख्याकार भगवान् उपवर्ष का प्रमाण देकर उक्त भावना को सुपुष्ट किया है।

समस्त नैमित्तिक कर्म 'अपूर्व'—उत्पत्ति के लिए किये जाते हैं। उस 'अपूर्व' के साथ जिनका किसी भी प्रकार का सीधा सम्बन्ध है, वे शेषी हैं; उनसे बचे हुए अन्य सब कर्म शेषभूत हैं; उक्त चर्चा का इतना ही सार है। याग अपूर्व का जनक होने से, फल स्वर्गादि-जन्य होने से, पुरुष आश्रय होने से अपूर्व के साथ सीधे सम्बद्ध है, अतः शेषी है। इनसे अतिरिक्त जो बचे, वे सब शेष हैं। द्रव्य, गुण,

संस्कार ऐसे ही हैं; उनका अपूर्व के साथ किसी प्रकार का भी सीधा सम्बन्ध नहीं है, अतः वे केवल शेष हैं ॥६॥ (इति शेषलक्ष्याऽधिकरणम्—३) ।

(निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताऽधिकरणम्—४)

प्रत्येक प्रधान धाम के अवसर पर शास्त्रीय नियमों के अनुसार चार-चार मुट्टी ब्रीहि आदि हव्य द्रव्य का ग्रहण करना 'निर्वाप' कहाता है ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में ब्रीहि आदि यागोपयोगी द्रव्यों के निर्वाप^१, प्रोक्षण, अवहनन आदि धर्म; आज्य के विलापन, उत्पवन, ग्रहण, आसादन आदि धर्म; तथा सान्नाय्य के शालाहरण, गायों का प्रस्थापन एवं पशुआना आदि धर्म कहे गये हैं। इनमें सन्देह है, क्या ये सब कार्य ब्रीहि, आज्य और सान्नाय्य में सर्वत्र सम्मिलित कर्तव्य हैं, अथवा जहाँ जिसका प्रयोजन हो, वहाँ करने चाहिए ?

सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

१. निर्वाप = 'चतुरो मुष्टीन् निर्वापति' [आप० श्रौ० १।१८।२] के अनुसार प्रत्येक प्रधान धाम के लिए चार-चार मुट्टी ब्रीहि आदि का ग्रहण करना निर्वाप है। प्रोक्षण = विशेष पात्र में रक्से जल से दाएँ हाथ द्वारा ब्रीहि का सेचन अथवा धोना 'प्रोक्षण' है। अवहनन = ब्रीहि को ओखली में डालकर छिलका उतारने के लिए मूसल से कूटना 'अवहनन' है। यह केवल ब्रीहि-सम्बन्धी वितुषीकरण कर्म है; ब्रीहि—धान का तुष—छिलका उतारकर शुद्ध चावल अलग करना इन कर्मों का प्रयोजन है।

आज्य के धर्म—विलापन = घृत को ताना, पिघलाना। उत्पवन = घृत को छानना, जिससे उसमें कोई तिनका आदि न रहे। ग्रहण = दोनों हाथों से उठाना। आसादन = ले-जाकर वेदि में रखना। ये धर्म केवल आज्य-सम्बन्धी हैं।

सान्नाय्य धर्म—दही-दूध की मिलित आहुति 'सान्नाय्य' है। इसके लिए गोदोहन आवश्यक है। इसमें उपयोग के लिए शालाहरण = पलाश (ढाक) की हरी शाखा काटकर लाना। प्रस्तावन—गायों का पशुआना = दूध उतारने के लिए बछड़ों को थनों में लगाना; इस अवसर पर तथा पशुआने के अनन्तर बछड़े को हटा लेने पर पलाश शाखा से उसका स्पर्श किया जाता है। यह क्रिया बछड़े को सहलाने के लिए की जाती है, जिससे वह अधिक उछल-कूद न करे। प्रस्थापन = गोदोहन के अनन्तर गायों को चरने के लिए छोड़ना। ये धर्म केवल सान्नाय्य से सम्बद्ध हैं; अन्य ब्रीहि आदि द्रव्यों के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

तेषामर्थेन संयोगः ॥७॥

[तेषाम्] उन निर्वाप, अवहनन आदि कार्यों का [अर्थेन] प्रयोजन के अनुसार ब्रीहि, आज्य व सान्नाय्य के साथ [संयोगः] सम्बन्ध समझना चाहिए, सर्वत्र नहीं ।

अवहनन = कूटना आदि धर्मों का फल सुषविमोक—छिलका उतर जाना आदि फल केवल ब्रीहि में व्यवस्थित देखा जाता है; इसका आज्य या सान्नाय्य द्रव्यों में कोई प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार गायों के नीचे बछड़ों को छोड़कर पसुजाना, दोहन आदि धर्मों का दूध आदि फल केवल गायों में देखा जाता है; न ब्रीहि में न आज्य में। ऐसे ही पिघलाना, छानना आदि धर्मों का शुद्धता आदि फल केवल आज्य में व्यवस्थित है; इसका (विलापन, उत्पवन आदि का) न कोई प्रयोजन ब्रीहि में देखा जाता है, न सान्नाय्य में। फलतः अवहनन, विलापन, प्रस्तावन आदि धर्मों का प्रयोजन किसी एक विशिष्ट द्रव्य के साथ पूरा होता है। सब धर्मों का सब द्रव्यों के साथ सम्बन्ध हो, ऐसा सम्भव नहीं; भले ही वे समान प्रकरण में पड़े गये हों। ये सब दृष्टफलवाले धर्म हैं; एक प्रकरण में सबका श्रवण होना, अनुचित व निष्प्रयोजन बात को उचित व सप्रयोजन बताने का साधक नहीं कहा जा सकता। इसलिए ये धर्म उसी द्रव्य के शेष हैं, जहाँ उनका उपयोग सम्भव है, जैसा यत् पंक्तियों में स्पष्ट किया गया ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—साक्षात् या परम्परा से सभी धर्म अपूर्व के साधन में उपयोगी होते हैं; तो इन धर्मों का सब द्रव्यों के साथ सम्बन्ध—सम्भव है किसी अपूर्व का साधक हो? शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणविशेषाच्च ॥८॥

[तु] 'तु' पद पूर्वोक्त पक्ष के निराकरण के लिए है। तात्पर्य है, अवहनन आदि धर्म जिस द्रव्य के साथ प्रयोजनवान् हैं, वहीं किए जावें,—यह कथन ठीक नहीं है। [विहितः] विधान किया गया अवहनन आदि [सर्वधर्मः] सब द्रव्यों— ब्रीहि, आज्य, सान्नाय्य—का धर्म [स्यात्] होना चाहिए, [संयोगतोऽविशेषात्] समानरूप से परम—अपूर्व के साथ सभी धर्मों का सम्बन्ध होने के कारण, [च] तथा [प्रकरणविशेषात्] एक ही प्रकरण—दर्श-पूर्णमास में पठित होने से।

अनुष्ठानों में सभी क्रियाकलाप परम—अपूर्व की सिद्धि के लिए किए जाते हैं, जो स्वर्गादि प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है। किसी कर्म का अपूर्व की उत्पत्ति में सीधा सम्बन्ध होता है; जैसे याग आदि का। यह 'स्वर्गकामो यजेत' इस विधान से प्राप्त है। ब्रीहि, आज्य आदि द्रव्य याग के साधन हैं; 'ब्रीहिर्भयं-

जैत' इस विधिवाक्य से प्राप्त हैं। 'ब्रीहीन् अवहन्ति, पिनष्टि' आदि वाक्यों से धानों का कूटना, पीसना आदि संस्कार विहित हैं; संस्कृत धान से पुरोडाश तैयार होता है, जो याग का साधन है। परम्परा से अन्तिम—अपूर्व की उत्पत्ति में उक्त प्रकार सभी धर्म-साधन हैं, अतः अवहनन, पेषण, उत्पवन, शाखाहरण आदि धर्मों का ब्रीहि, आज्य, गोबोहन आदि सभी के साथ सम्बन्ध माना जाना चाहिए। अपूर्वोत्पत्ति में सभी का सहयोग सम्भव है। ये सभी धर्म शास्त्र द्वारा विहित हैं। इनका विधान इस तथ्य का प्रयोजक है कि ये अपूर्वोत्पत्ति में साधन हैं। प्रतीत होता है, इसी कारण इन सब धर्मों का एक ही दर्श-पूर्णमास प्रकरण में श्रवण है, जो ब्रीहि आदि सभी के धर्म होने को पुष्ट करता है। फलतः ये धर्म सभी के उपकारक हैं, यह निश्चित होता है ॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

अर्थलोपादकर्मं स्यात् ॥९॥

[अर्थलोपात्] अर्थ = प्रयोजन का लोप होने से, अर्थात् अवहनन आदि का जहाँ—आज्य आदि में कोई प्रयोजन नहीं है, वहाँ वह क्रिया [अकर्म] अकरणीय [स्यात्] है।

धान का अवहनन = कूटना धान के छिलके को उतारकर अलग कर दिये जाने पर शुद्ध-स्वच्छ चावल के दाने को निकालना प्रयोजन है। यह क्रिया आज्य तथा सान्नाय्य में निष्प्रयोजन है; इसलिए उनमें इस क्रिया का किया जाना नितान्त अनावश्यक है। यह कहना सर्वथा निराधार है कि आज्य आदि में अवहनन क्रिया का किया जाना अपूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होगा। शास्त्र में कहीं कोई ऐसा संकेत उपलब्ध नहीं, जिसे आज्य आदि में अवहनन अपूर्व का साधक जाना जाय। अतः जहाँ जो क्रिया उपकारक है, वहीं उसका किया जाना योग्य है ॥९॥

उक्त अर्थ को सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट किया—

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद् विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

[फलम्] धान के छिलके को अलग करना रूप फल [तु] तो [चेष्टया सह] चेष्टा = अवहनन आदि क्रिया के साथ स्पष्ट देखा जाता है। तात्पर्य है, धान के कूटने से उसका छिलका उतरकर शुद्ध चावल का प्राप्त होना अवघात क्रिया का स्पष्ट दृष्ट फल है। [विप्रयोगे] तुषरहित होना = दृष्ट फल के सर्वथा न होने पर [अभावात्] दृष्ट फल के अभाव से [शब्दार्थः] अवघात कथनमात्र [स्यात्] हो जायगा।

'ब्रीहीन् अवहन्ति' धानों को कूटता है, इस वाक्य का यदि केवल यह तात्पर्य

माना जाता है कि धान में मूसल की हल्की दो-चार चोट देकर छोड़ दिया जाय, छिलका न उतारा जाय, तथा उस अवघात को अपूर्व की उत्पत्ति में उपकारक माना जाय, तो आज्य, सान्नाय्य में भी अवघात अपूर्व का उपकारक हो, ऐसी कल्पना की जा सकेगी। परन्तु यह सर्वथा अशास्त्रीय एवं अप्रामाणिक है, क्योंकि धान का वितुषीकरण किसी प्रयोजन के लिए होता है। वह प्रयोजन है—शुद्ध चावल से पुरोडाश तैयार करना, जो याग का मुख्य हव्य द्रव्य है। इसलिये धान का वितुषीकरण अवघात-क्रिया का प्रत्यक्षसिद्ध दृष्ट फल है। आज्य आदि में यह प्रयोजन असम्भव है।

प्रकरण में पाठ की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि कूटना, पिघलाना आदि का ब्रीहि, आज्य, सान्नाय्य सबके साथ सम्बन्ध माना जाय; अवघात का ब्रीहि के साथ, पिघलाने का आज्य के साथ तथा शाखाहरण का सान्नाय्य के साथ सम्बन्ध माने जाने पर भी प्रकरण-पाठ की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। फलतः अवघात, विलापन, शाखाहरण आदि—अव्यवस्थित रूप से ब्रीहि, आज्य, सान्नाय्य सबके—धर्म न होकर पूर्वनिर्देशानुसार व्यवस्थित धर्म हैं, एवं उन्हीं के शेष हैं। निर्वाप आदि ब्रीहि के, विलापन आदि आज्य के तथा शाखाहरण आदि सान्नाय्य के शेष हैं ॥१०॥ (इति निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितवियथाऽधिकरणम्—४)।

(स्प्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्त्वाधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास याग के प्रसंग में कतिपय यज्ञपात्रों अथवा उपकरणों का निर्देश है; वे हैं—स्पय, कपाल, अग्निहोत्र-हवणी, शूर्प, (छाज), कृष्णमृगचर्म, शम्या, उलूखल, मुसल, दूषद् [शिला, चावल पीसने की], उपल [लोढ़ा या बट्टा], ये दस उपकरण यज्ञ के आयुध कहे जाते हैं। इनके सहयोग से यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाकर विजित होता है।

यहाँ संशय है—क्या ये उपकरण, यज्ञ में जो कर्मांश जिसके सहयोग से किया जा सकता है, उस-उस के लिए पठित हैं? अथवा उत्पत्ति-वाक्य में जो उपकरण जिस कर्म के साथ सम्बद्ध है, उसी के लिए पठित है? 'स्पयेन उद्धन्ति'—स्पय से उद्धनन, उत्पादन करता है, वेदि के लिए खूँड या चिह्न बनाता है; यह उत्पत्ति-वाक्य है। सन्देह का स्वरूप है—यज्ञ में जो भी कार्य जिस उपकरण से किया जा सके, उससे कर लिया जाय? अथवा उत्पत्ति-वाक्य में निर्दिष्ट कार्य ही किया जाय? पहले विकल्प में कार्य की व्यवस्था नहीं है; दूसरे में कार्य व्यवस्थित है। कर्त्तव्यरूप में प्रथम विकल्प प्राप्त होता है; क्योंकि दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पठित ये सब उपकरण उसी अवस्था में सप्रयोजन होते हैं, जब जो कार्य इनसे किया जा सके, वह कर लिया जाय; अन्यथा प्रसंग में इनका ध्वण व्यर्थ हो जायगा।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥

[द्रव्यम्] द्रव्य = स्फय, कपाल आदि उपकरण [उत्पत्तिसंयोगात्] उत्पत्ति = विधायक—‘स्फयेनोद्धन्ति, कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति’ आदि वाक्यों में उद्धनन, श्रपण आदि क्रियाओं के सम्बन्ध से [तदर्थम्] उसी उद्धनन, श्रपण आदि प्रयोजन के लिए [एव] ही [चोद्येत] कहे जायेंगे। तात्पर्य है, उत्पत्ति-वाक्य में जिस द्रव्य = उपकरण के साथ जो क्रिया विहित है, उसी क्रिया के लिए उस उपकरण का उपयोग होना, तथा उस क्रिया के लिए उसी उपकरण का प्रयोग हो सकेगा।

उत्पत्ति-वाक्य में प्रत्येक उपकरण किसी विशिष्ट क्रिया के साथ सम्बद्ध है। तब उस उपकरण का उपयोग उसी क्रिया के लिए किया जाना चाहिए, जैसे—‘स्फयेनोद्धन्ति’ उत्पत्ति-वाक्य है, स्फय-संज्ञक उपकरण से वेदिका का खूँड बनाता है। यह उद्धनन-क्रिया स्फय नामक साधन से ही की जानी चाहिए, अन्य किसी से नहीं। एवं इस उपकरण का उपयोग उद्धनन-क्रिया में ही होना चाहिए, अन्य किसी कार्य में नहीं; यह व्यवस्था है।

इसी प्रकार अन्य उत्पत्ति-वाक्य है—‘कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति’ मृत्पात्रों में पुरोडाश को पकाना है। पुरोडाश पकाने के लिए बनाये गये कपालों (मृत्पात्रों) में ही वह पकाया जाना चाहिए, अन्य पात्रों में नहीं; तथा उन पात्रों में पुरोडाश ही पकाना चाहिए, अन्य कोई कार्य उनमें नहीं किया जाना चाहिए।

‘अग्निहोत्रहवण्या हवीषि निर्वपति’ अग्निहोत्रहवणी पात्र से हवियों का निर्वाप करता है। तात्पर्य है, एक-एक करके चार मुट्टी धान निकालता है। इस पात्र का प्रयोग—चार मुट्टी धान उसमें प्रक्षेप करना, और उपयुक्त समय पर निकालना—इसी कार्य के लिए होता है।

‘शूर्पेण विविनक्ति’ सूप—छाज से—कुटे हुए धानों को—फटकता है। सूप केवल इसी कार्य के लिए व्यवस्थित है, तथा यह कार्य अन्य किसी उपकरण से नहीं लेना चाहिए।

‘कृष्णाजिनमथस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति’ काले मृगचर्म को ऊखल के नीचे बिछाता है। मृगचर्म केवल इसी कार्य के लिए है, और कृष्ण मृगचर्म के स्थान पर अन्य किसी का उपयोग न करना चाहिए।

‘शम्यायां दृषदमुपदधाति’ शम्या पर शिला को रखता है। यह ‘ट्रे’ के समान आयताकार यज्ञिय पात्र है। इसमें रखी हुई शिला पर चावल पीसा जाता है जिससे छिटककर द्धर-उधर गिरा द्रव्य शम्या पर सुरक्षित रहे, और सुबिधा-पूर्वक शुद्धरूप में उठाया जा सके। यह इसी कार्य के लिए व्यवस्थित पात्र है।

‘उलूखलमुसलाम्यामवहन्ति’ ऊखल-मूसल से ब्रीहि को कूटता है। इन

उपकरणों का इसी कार्य में उपयोग व्यवस्थित है।

'दृषदुपलाम्यां पिनष्टि' शिला और बट्टे से चावलों को पीसता है। इनका यह उपयोग निर्धारित है।

यद्यपि ये सब कर्म प्रकरण में समानरूप से पठित हैं, पर पीछे कहे उत्पत्ति-वाक्यों में जो कार्य जिस उपकरण का कहा है, उसका सम्बन्ध उसी के साथ व्यवस्थित है। इन सब कर्मों का दृष्ट प्रयोजन प्रत्यक्षसिद्ध है। इनका सर्वत्र विनियोग न होकर उत्पत्तिवाक्य के अनुसार निर्धारित कार्य में ही विनियोग माना जाना शास्त्रीय सिद्धान्त है।

गत अधिकरण के साथ विषय-विवेचन की आंशिक समानता होने पर प्रस्तुत अधिकरण की यह विशेषता है कि यहाँ 'स्पर्श' आदि द्रव्यों—उपकरणों का एकाधिक बार उल्लेख हुआ है। तात्पर्य है, उत्पत्तिवाक्यों के अतिरिक्त भी प्रकरण में उनका उल्लेख हुआ है, जबकि गत अधिकरण में ब्रीहि आदि द्रव्यों का उल्लेख केवल उत्पत्तिवाक्यों में है ॥११॥ (इति स्पर्शादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थित-त्वाधिकरणम्—५)।

(अरुणादीनां गुणानामसंकीर्णताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम याग में सोम के ऋय का आरम्भ कर कहा है—'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' अरुण = लाल-पीले मिले रूपवाली, अर्थात् सायंकाल सूर्य छिपने के अवसर पर पश्चिम दिशा के समान रूपवाली, पीली आंखोंवाली, तथा एक वर्ष की अवस्थावाली गाय मूल्यरूप में देकर सोम खरीदता है। यहाँ सन्देह है—क्या इस अरुण रूप का सम्बन्ध समस्त ऋय-प्रकरण के साथ है? अथवा यह केवल—ऋय में एक वर्ष अवस्थावाली—गाय में ही सम्बद्ध है?

यद्यपि उक्त वाक्य में तीनों तृतीयान्त पदों का सीधा सम्बन्ध 'क्रीणाति' क्रिया के साथ है। कर्म, करण आदि अर्थ को कहनेवाले कारक का सम्बन्ध क्रिया के साथ हुआ करता है। यहाँ भी तीनों पदों में तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट करण कारक है; तात्पर्य है, ये सोम को खरीदने के साधन हैं—'अरुणया क्रीणाति, पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति' इस स्पष्ट वचन से इसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं होना चाहिए; पर पहले वाक्य [अरुणया क्रीणाति] में सन्देह बना रहता है। कारण यह है, अगले दोनों पदों में बहुव्रीहि समास है—'पिङ्गे अक्षिणी यस्याः सा पिङ्गाक्षी, तथा पिङ्गाक्ष्या' पिङ्ग पद गुणवाचक है, अमूर्त है, पर बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होता है, पिङ्ग पद और अक्षि पद अपने अर्थ को छोड़कर अन्य गायरूप प्रधान द्रव्य-अर्थ का बोध कराते हैं। उसका 'क्रीणाति' क्रिया के साथ सम्बन्ध युक्त एवं व्यवहार्य है। पीली आंखवाली गाय मूल्यरूप में

देकर सोम खरीदा जाता है।

‘एकहायन्या’ पद भी ऐसा ही है—‘एकं हायनं दयो यस्याः सा एकहायनी तथा—एकहायन्या’ हायन पद भी अमूर्त्त गुण वच का बोधक है; पर बहुव्रीहि समास में अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ—एक वर्ष वयवाली गाय प्रधान द्रव्य का बोध कराते हैं। इसका ‘क्रीणाति’ क्रिया के साथ सम्बन्ध युक्त एवं व्यवहार्य है।

परन्तु पहले वाक्य—‘अरुणया क्रीणाति’ में ‘अरुणया’ के मूलपद ‘अरुणा’ में बहुव्रीहि समास नहीं है; अतः यह पद अपने अर्थ को नहीं छोड़ता, यह अरुणरूप गुण का बोधक बना रहता है। ‘अरुणया क्रीणाति’ में अरुणरूप गुण के अमूर्त्त होने से सोम के मूल्यरूप में उसका दिया जाना अयुक्त एवं अव्यवहार्य है। पर यह वाक्य प्रमाणभूत है। प्रमाणवाक्य किसी ऐसी अटपटी बात को कहे, जो अयुक्त एवं अव्यवहार्य हो, ऐसा सम्भव नहीं। अतः इस वाक्य की सार्थकता के लिए अरुण गुण का सम्बन्ध ‘क्रीणाति’ क्रिया के साथ न जोड़कर समस्त क्रय-प्रकरण के साथ समझना चाहिए। इसका तात्पर्य होगा—क्रय प्रकरण में वर्णित—सोम खरीदने के—वस्त्र आदि साधनों का अरुण रूप होना चाहिए, उक्त वाक्य यह विधान करता है। इस प्रकार सन्देह का स्वरूप बनता है—‘अरुणया क्रीणाति’ में आरुण्य का सम्बन्ध समस्त क्रय-प्रकरण के साथ माना जाना चाहिए? अथवा एकहायनी पिङ्गाक्षी गाय के साथ? आशंकावादी का कहना है—अरुण पद अपने अर्थ को न छोड़ने के कारण एकहायनी गाय का बोध कराने में अक्षम होगा, तब ‘क्रीणाति’ के साथ सम्बन्ध अव्यवहार्य होने से समस्त क्रय-प्रकरण के साथ इसका सम्बन्ध मानना चाहिए। आचार्य ने शिष्य-आशंका का समाधान किया—

अर्थकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥

[एककर्म्यात्] जिस कर्म में, एक ही क्रिया के साध्य होने के कारण [द्रव्य-गुणयोः] द्रव्य और गुण के [अर्थकत्वे] एक प्रयोजनवाला होने पर, द्रव्य और गुण का परस्पर [नियमः] निश्चित सम्बन्ध [स्यात्] हो जाता है।

प्रस्तुत वाक्यबोधित कर्म में सोमक्रयरूप एक क्रिया साध्य है। आरुण्य गुण तथा पिङ्गाक्षी, एकहायनी द्रव्य, इन सबका एक ही प्रयोजन है—उस क्रिया को सिद्ध करना। ऐसी स्थिति में गुण और द्रव्य का परस्पर नियत सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यदि इनका परस्पर सम्बन्ध न माना जाय, तो सोमक्रयरूप क्रिया का सम्पन्न होना सम्भव न होगा। श्रुत वाक्य में ये करण अर्थात् साक्षात् साधन-रूप से निर्दिष्ट हैं। यदि एकहायनी के साथ ‘अरुणया’ पदबोधित आरुण्य के सम्बन्ध की उपेक्षा की जाती है, तो करणसामग्री में न्यूनता होने से सोमक्रय न हो सकेगा। पूरा मूल्य न देने पर सौदा कहीं मिलता नहीं। फलतः जैसे एकहायनी के

साथ पिङ्गाक्षी का सम्बन्ध है, ऐसे ही आरुण्य गुण का एकहायनी के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है।

आशंकावादी ने यह कहकर इस सम्बन्ध को हटाने का प्रयास किया है कि गुणवाचक पद ने अपने अर्थ को नहीं छोड़ा; पर अगले दोनों पद बहुव्रीहि समास-युक्त होने से स्वार्थ को छोड़कर अन्य गायरूप अर्थ का बोध कराते हैं। यह स्थिति गुणवाचक अरुण पद की न होने से उसका सम्बन्ध द्रव्यबोधक पदों के साथ मानना युक्त न होगा। पर यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि गुण का सम्बन्ध सर्वत्र द्रव्य के साथ रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में पिङ्गाक्षी, एकहायनी द्रव्यवाचक पद विशेष्यरूप हैं, गुणवाचक अरुण पद विशेषणरूप है। सोमक्रय करने के लिए उसका मूल्य पिङ्गाक्षी एकहायनी गाय द्रव्य है; पर वह उपयुक्त मूल्य उसी स्थिति में माना जायगा, जब वह रूप से अरुण हो। 'अरुण्या' पद से बोध्य आरुण्य गुण सोमक्रय का अपने स्वतन्त्र रूप में मूल्य नहीं है, और न इस रूप में पिङ्गाक्षी तथा एकहायनी। फलतः सोमक्रय के मूल्य के लिए इनमें से किसी को छोड़ा नहीं जा सकता। अतः इनका परस्पर नियत सम्बन्ध सोमक्रयरूप एक क्रिया की सिद्धि के लिए स्वीकार किया जाना अनिवार्य है। विशेष्य-विशेषण के परस्पर सम्बन्ध में—भले ही उनमें कोई गुण या कोई द्रव्य हो—किसी प्रकार की बाधा नहीं होती।

यह स्पष्ट हो जाने पर कि—'अरुण्या' का 'क्रीणाति' के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर 'एकहायनी' विशेष्य द्वारा होता है; तात्पर्य है—आरुण्य-गुण-विशिष्ट एकहायनी सोमक्रय का साधन है; वह करणरूप से क्रीणाति के साथ अन्वित है—यह कथन निराधार हो जाता है कि अमूर्त आरुण्य का 'क्रीणाति' के साथ सम्बन्ध अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में क्रय-प्रकरणपठित अन्य वस्त्रादि साधनों के साथ आरुण्य गुण के अन्वय की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। वे चाहे अरुण हों, अथवा अन्य-गुण-विशिष्ट हों, उनके लिए इस प्रकार की कोई शास्त्रीय व्यवस्था नहीं है। फलतः 'अरुण्या' पद 'एकहायन्या' से अन्वित है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥१२॥ (इति आरुण्यादि गुणानामसंकीर्णताऽधिकरणम्—६)।

(सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम याग है, वहाँ कहा—'य एवं विद्वान् सोमेन यजते' जो विद्वान् इस प्रकार सोम से यजन करता है। उस सोमयाग में सुना जाता है—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' दशापवित्र' से अर्थात् सोम को

१. 'दशापवित्र' समासयुक्त पद है। 'पवित्र' सोमरस छानने के वस्त्र का नाम है। हिन्दी में 'छन्ना' और पञ्जाबी में 'पुनना' कहते हैं, जो संस्कृत पद का अपभ्रंश प्रतीत होता है। 'दशा' वस्त्र के 'छोर' का नाम है, जिसमें घागे बिन

छाननेवाले वस्त्र से ग्रह को पीछता है। ऐसे ही अग्निहोत्र-प्रसंग में कहा है— 'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति' अग्निस्थण्डिल पर बिखरे पड़े तिनकों को दूर हटाता है। इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास प्रसंग में वाक्य है—'पुरोडाशं पर्यग्नि करोति' पुरोडाश के चारों ओर दहकती अंगारी या जलते हुए कुशतृणों को धुमाता है। इनके विषय में संशय है—क्या यह एक ग्रह के सम्मार्जन, एक अग्निस्थण्डिल के तृण हटाने, तथा एक पुरोडाश के पर्यग्निकरण के विषय में कहा गया है? अथवा सब ग्रहों, सब अग्निस्थण्डिलों और सब पुरोडाशों के विषय में? प्रतीत होता है, उक्त वाक्यों में एकवचन का प्रयोग देखे जाने से एक ही ग्रह आदि के सम्मार्जन आदि का कथन हुआ है। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥

[एकत्वयुक्तम्] उक्त प्रत्येक कर्म एकवचन से युक्त है, अतः [एकस्य] एक ग्रह, एक अग्नि, एक पुरोडाश का होना चाहिए, [श्रुतिसंयोगात्] इन द्रव्यों का एकवचन श्रुति से संयोग होने के कारण।

'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि, अग्नेस्तृणान्यपचिनोति, पुरोडाशं पर्यग्नि करोति' इन श्रुतिवाक्यों में ग्रह, अग्नि, पुरोडाश द्रव्य एकवचन से सम्बद्ध पठित हैं; इनमें संख्या की दृष्टि से एक ही द्रव्य सुना जाता है। शब्द-प्रमाण से बताये गये कर्म के विषय में वही बात मान्य है, जो शब्द कहता है। इसलिए यहाँ एक ग्रह का सम्मार्जन, एक अग्निस्थण्डिल के तिनकों का हटाना, एक पुरोडाश का पर्यग्निकरण होना युक्त है। शास्त्र में अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है, 'पशुमालभेत' वाक्य में 'पशुम्' एकवचनान्त पठित होने से केवल एक पशु का आलभन (स्पर्श—विसर्जन) किया जाता है। ऐसा ही यहाँ किया जाना चाहिए ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सर्वेषां वा लक्षणत्वाद् अविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥

[वा] 'वा' पद जिज्ञासा की व्यावृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, एक ग्रह, एक अग्नि, एक पुरोडाश का सम्मार्जन आदि संस्कार नहीं करना चाहिए, प्रत्युत [सर्वेषाम्] सब ग्रहों, सब अग्नियों, सब पुरोडाशों के यथाक्रम सम्मार्जन, तृणापचय,

बुने रह जाते हैं। इन पदों का समास है—'पवित्रस्य दशा इति दशापवित्रम्' पाणिनि [२।२।३१] के अनुसार 'दशा' पद का पूर्वप्रयोग हो जाता है। यह पवित्र ऊन का बना होता है। 'ग्रह' वह पात्र है, जिसमें सोमरस छाना जाता है। पात्र के मुख पर यह वस्त्र रखकर उसमें सोमरस छानते हैं। जो बूँद पात्र पर गिर जाती है, उन्हें वस्त्र के छोर से पीछे दिया जाता है।

तथा पर्यग्निकरण संस्कार किये जाने चाहिए, [लक्षणत्वात्] एकवचन द्वारा जातिरूप लक्षण का कथन होने से। [हि] क्योंकि, अथवा निश्चय से [लक्षणम्] ग्रहत्व, अग्नित्व, पुरोडाशत्वरूप जातिचिह्न, सर्वत्र [अविशिष्टम्] समान रूप से विद्यमान है।

'ग्रहं सम्माष्टि' आदि वाक्यों में जो ग्रह, अग्नि, पुरोडाश द्रव्यों का एकवचनान्त निर्देश है, वह जाति की भावना से किया गया है। सभी समान व्यक्तियों में जाति-धर्म एक ही रहता है। जैसे 'गोत्व'-जाति-धर्म से गोमात्र का ग्रहण होता है, ऐसे ही 'ग्रहत्व'-जाति से समस्त ग्रहों का, 'अग्नित्व'-जाति से समस्त अग्नियों का, 'पुरोडाशत्व'-जाति से समस्त पुरोडाशों का ग्रहण अभोष्ट है। इसलिए सभी ग्रहों का सम्मार्जन, सभी अग्निस्थण्डलों से तिनकों का हटाना, सभी पुरोडाशों का पर्यग्निकरण-संस्कार शास्त्रीय दृष्टि से कर्तव्य हैं, एक ही एक ग्रह आदि के नहीं।

यहाँ सम्मार्जन-संस्कार ग्रहों के लिए है, तृणापचय अग्नियों के लिए, पर्यग्निकरण पुरोडाशों के लिए। जिसके लिए कोई कार्य किया जाता है, वह प्रधान होता है, किया गया कार्य गौण। इस प्रकार सम्मार्जन-संस्कार ग्रह का शेष है, ग्रह शेषी है। तृणापचय अग्नियों का शेष है, अग्नि शेषी है। पर्यग्निकरण पुरोडाशों का शेष है, पुरोडाश शेषी है।

प्रथम [१।३।३०-३५; अधि० ११] यह निर्णय किया गया है कि शब्द का अर्थ जाति है, व्यक्ति नहीं। इसके अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में 'ग्रह' आदि पदों को जातिवाचक मानने में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है। फिर भी सुजनतोष-न्याय से यदि शब्द का अर्थ व्यक्ति माना जाता है, और 'ग्रह' आदि पदों को एक व्यक्ति का वाचक माना जाय, तो भी द्वितीय-तृतीय आदि ग्रहों के संस्कार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। यह ठीक है, एकवचनान्त 'ग्रह'-पद अपने एकत्व अर्थ का बोध कराता है; पर वह द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में बाधक नहीं होता। वह अपने एकत्व अर्थ का कथन कर चरितार्थ है। द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में बाधा करनेवाला यहाँ कोई विधान नहीं है। द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में भी वाक्य की प्रवृत्ति अधुष्ण बनी रहती है।

आशंका की जा सकती है, एक द्रव्य में और द्वितीय आदि द्रव्यों में सम्मार्जन-संस्कार के प्राप्त होने पर श्रुतिबोधित इष्ट एक द्रव्य परिसंख्याविधि के अनुसार द्वितीयादि अनिष्ट द्रव्यों का प्रतिषेध कर देगा। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो एकवचन अनर्थक होता है। इसलिए वह एकवचन द्वितीय आदि द्रव्यों के निवारण में समर्थ है। यह स्थिति अन्यत्र वाक्य में स्वीकार की जाती है। एक वाक्य है—'अश्वाभिधानीमादत्ते' घोड़े की लगाम पकड़ता है। यह वचन गदहे की लगाम पकड़ने का प्रतिषेध करता है। ऐसे ही यहाँ एकत्व के विषय में समझना

चाहिए। श्रूयमाण ग्रह का एकत्व द्वितीयादि ग्रहों का प्रतिषेध करेगा।

आपाततः यह आशंका भले ही युक्त प्रतीत हो, पर गम्भीरता से विचारने पर इसकी असारता स्पष्ट हो जाती है। कारण यह है, प्रस्तुत प्रसंग के साथ 'अश्वाभिधानी' दृष्टान्त की समानता = उपयुक्तता नहीं है। घोड़े की लगाम के आदानरूप सम्बन्ध का विधान करनेवाला—'इमामगृम्णन् इत्यश्वाभिधानीम्' यह वचन है। 'आदत्ते' (ग्रहण करे) इस लिङ्ग से ही लगाम का आदान प्राप्त होता है। यहाँ मन्त्र की 'रिसंख्या' संगत है। तात्पर्य है, 'इमामगृम्णन्' मन्त्र से लगाम न पकड़े। गदहे की लगाम पकड़ने के प्रतिषेध में यहाँ परिसंख्या-विधि लागू होती है। परन्तु 'ग्रहं सम्गाष्टि' आदि वाक्यों में ग्रहादि द्रव्यों के साथ श्रूयमाण भी एकवचन किसी विधिवाक्य से विहित नहीं है। इसलिए द्वितीय ग्रह आदि के निवर्तन में वह समर्थ नहीं रहता।

यह स्थिति निम्नांकित दृष्टान्त से स्पष्ट होती है। जैसे कोई कहे, 'इस भात को कुत्ता-बिल्ली द्वारा खाने से बचाना' ऐसा विधान भक्षणकर्म-निवारण के निमित्त किया जाता है; कुत्ता-बिल्ली का सम्बन्ध निमित्तरूप से विहित नहीं है; इसलिए कौवा आदि अन्य कोई खाने आये, उसे भी हटाया जायगा। कुत्ता-बिल्ली के सुने जाने पर भी उनका सम्बन्ध निमित्तरूप से विधीयमान न होने के कारण काक आदि का भी निवारण किया जाता है। ऐसे ही प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहादि के साथ एकत्वसम्बन्ध के विधीयमान न होने के कारण एकत्व के सुने जाने पर भी सभी ग्रहों का सम्मार्जन किया जाता है।

ऐसी स्थिति में भी एकवचन का आनर्थक्य नहीं है। कोई भी प्रातिपदिक जब क्रिया के साथ सम्बद्ध प्रयुक्त किया जाता है, तब उसका किसी भी कारक के रूप में प्रयोग किया जाना अनिवार्य है, जो किसी विभक्ति एवं वचन के रूप में सम्भव है। इसी में एकवचन की सार्थकता है। ग्रह आदि के सम्मार्जन आदि में एकवचन अविवक्षित रहता है। फलतः सम्मार्जन आदि सभी ग्रह आदि में होते हैं; यही शास्त्रीय मान्यता है ॥१४॥

सूत्र १३ में आशंकावादी ने 'पशुमालभेत' वाक्य को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर कहा था कि जैसे एकत्व और पुंस्त्व इस वाक्य में विवक्षित है, ऐसे ही 'ग्रहं सम्गाष्टि' में एकत्व को विवक्षित मानना चाहिए, तब द्वितीयादि ग्रहों का सम्मार्जन अभीष्ट न होगा, उसका समाधान सूत्रकार ने किया—

१. परिसंख्या-विधि को अधिक स्पष्ट समझने के लिए देखें—मी०सू० १।२।४२, का विद्योदय भाष्य।

चोदिते तु परार्थत्वात् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥१५॥

[चोदिते] 'पशुमालभेत' इस विधिविहित कर्म में [तु] तो [परार्थत्वात्] पशु के परार्थ = यागार्थ अथवा आलम्भनार्थ होने के कारण (यथाश्रुति) श्रुति के अनुसार एकत्व, पुंस्त्व का ग्रहण (प्रतीयेत) जानना चाहिए।

'पशुमालभेत' और 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इन वाक्यों के अर्थ-प्रतिपादन में भेद है। जो स्थिति पहले वाक्य में है, वह दूसरे में नहीं है। कारण यह है—जिसको उद्देश्य करके कर्म का विधान किया जाता है, वह एकत्वादि संख्या विवक्षित नहीं होती। तात्पर्य है, उद्देश्यगत संख्या अविवक्षित रहती है। 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में ग्रह को उद्देश्य करके सम्मार्जन-कर्म का विधान है। 'ग्रहम्' में एकत्व-संख्या अविवक्षित है, ग्रह का सम्मार्जन विवक्षित है। ग्रह चाहे एक हो, दो हों, तीन हों, सभी का सम्मार्जन प्राप्त हो जाता है।

यह स्थिति 'पशुमालभेत' वाक्य में नहीं है। यहाँ पशु पदार्थ है, याग के लिए है, अर्थात् याग को उद्देश्य करके पशु का विधान है। यहाँ पशु उद्देश्य न होने के कारण 'पशुम्' इस प्रयोग में एकत्व और पुंस्त्व अविवक्षित न होगा। यहाँ जैसा कहा है, उसी के अनुसार कार्य होगा, अर्थात् एक पुरुष-पशु ही आलम्भन के लिए प्रस्तुत किया जायगा। वह याग के साधनों में एक अङ्ग है। फलतः 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' के प्रसंग में उक्त दृष्टान्त को प्रस्तुत करना असंगत है। फलस्वरूप सभी ग्रहों का सम्मार्जन, सब अग्निषों का तृणापचय एवं सब पुरोडाशों का पर्यग्निकरण सिद्ध होता है। 'ग्रह'-विषयक इस विवेचन के आधार पर शास्त्र में 'ग्रहैकत्व न्याय' एक कहावत बन गई है, जिसका प्रयोग अनेकत्र होता रहा है ॥१५॥ (इति सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्—७)।

(चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाऽधिकरणम्—८)

गत अधिकरण में ज्योतिष्टोम प्रसंग के 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों पर विचार किया गया। यहाँ 'ग्रहं' के एकत्व को अविवक्षित मानकर सभी ग्रहों के सम्मार्जन का विधान किया गया। इसपर शिष्य जिज्ञासा करता है—एकत्व के समान ग्रह पद को भी अविवक्षित मानकर सोमरस से सम्बद्ध अन्य चमस आदि पाश्रों के सम्मार्जन का भी विधान क्यों न माना जाय? क्योंकि उनका भी सोम से सम्बन्ध है, और समान प्रकरण में पठित हैं। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र-प्रतिपादित पक्ष की निवृत्ति के लिए है। [गुणानाम्]

सम्मार्जन आदि गुणों के [संस्कारात्] संस्काररूप कर्म होने के कारण [अव्यवस्था] व्यवस्था नहीं [स्यात्] होनी चाहिए। तात्पर्य है—ग्रह-पात्रों का ही सम्मार्जन ही, चमस आदि का न हो, यह व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

सम्मार्जन एक संस्कार है। वह जैसे सोमरस-सम्बन्धी ग्रहपात्रों के लिए अपेक्षित है, ऐसे ही चमस के लिए अपेक्षित है; वह भी सोमरस-सम्बन्धी पात्र है। ग्रहपात्र में सोमरस छाना जाता एवं भरा जाता है। चतुष्कोण मध्य में खुदे हुए कुछ गहरे चमस नामक पात्र से सोमरस की आहुतियाँ दी जाती हैं। सोमरस से दोनों का समान सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रकरण में यह श्रुत है, उसी प्रकार चमस भी श्रुत है। इसलिए ग्रह, चमस आदि का सर्वत्र सम्मार्जन करना चाहिए।

इस प्रसंग में यह कहना संगत न होगा कि 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य में साक्षात् पठित 'ग्रह' पद चमसों का निवर्तक होगा; केवल ग्रहों का सम्मार्जन होना चाहिए, चमसों का नहीं, क्योंकि 'ग्रह' पद उपलक्षणमात्र है। वस्तुतः वह सोम-सम्बन्धी सभी पात्रों को उपलक्षित करता है। 'ग्रह' पद का अर्थ होगा—ग्रहादि समस्त सोम-सम्बन्धी पात्र। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है, जब कहा जाता है—'भोजन का समय है, सब थालों को साफ कर लो।' उस अवसर पर जो भी पात्र भोजन में उपयोगी होते हैं, सबको साफ किया जाता है; थाल का ग्रहण प्रदर्शन-मात्र = उपलक्षणमात्र होता है। ऐसे ही प्रस्तुत प्रकरण में समझना चाहिए।

यहाँ यह कहना भी युक्त न होगा कि लोक में प्रयोजनवश उपलक्षण व्यवहार होता रहता है, पर वैदिक कर्म तो केवल शब्द-प्रमाण पर आधारित है। वहाँ शब्द में जैसा निर्देश है, वही कर्तव्य होगा। शब्द केवल ग्रह का सम्मार्जन कहता है। तब यहाँ श्रुत्यर्थ के ग्रहपात्र-सम्मार्जन में सम्भव होने से लक्षणा की कल्पना क्यों की जाय? इस कथन के अयुक्त होने में कारण यह है—'सम्मार्ष्टि' आख्यात-पद सम्मार्जन में पुरुष के प्रयत्न को विधान करने में श्रवणमात्र से समर्थ है; इसके लिए उसे ग्रह आदि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। ग्रह आदि तो अनन्तर वाक्य के द्वारा सम्मार्जन से सम्बद्ध होते हैं। शास्त्र में वाक्य की अपेक्षा श्रुति बलवती मानी जाती है। अतः सम्मार्जन-विहित हो जाने पर ग्रह आदि सभी पात्र सम्बद्ध होते रहते हैं। तब 'ग्रह' पद अन्य पात्रों का उपलक्षण सम्भव है। इसलिए सम्मार्जन-संस्कार के योग्य जो पात्र हैं, उन सबका सम्मार्जन करना चाहिए, केवल ग्रहों का नहीं। सम्मार्जन-गुण सभी पात्रों के लिए समान है ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करता है—

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥

[वा] 'वा' पद उक्त आशंका के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—चमसों का भी सम्मार्जन करना चाहिए, यह कथन युक्त नहीं है। [अर्थस्य] 'ग्रह'-रूप

अर्थ का [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति के साथ शब्दप्रमाणत्वात्] विधि के विषय में अद्वय-सम्माष्टि' से सम्मार्जन ग्रहों में ही व्यवस्थित

'ग्रहं सम्माष्टि' में 'ग्रह'-पद 'सम्माष्टि' पठित है। श्रुतिबोधित अर्थ—ग्रह को छोड़कर के लिए इधर-उधर नहीं भाँक सकता। यह 'सम्माष्टि' कथन प्रमत्तगीत के समान प्रमाण इसलिए 'ग्रह'-पद यहाँ से अतिरिक्त अर्थ करेगा; केवल ग्रहों को लक्षित कर उनके अर्थ वचन है, यह निश्चित होता है।

अपूर्व के सम्बन्ध और प्रकरण की सम्मार्जन की प्राप्ति कही, वह युक्त नहीं है। अपूर्व की कल्पना व्यर्थ है। प्रकरणगत पद होने पर उन पदार्थों में सम्मार्जन का विधान सम्मार्जन की एकवाक्यता साक्षात् श्रुतियों पदार्थों के साथ प्रकरण से अनुमित होती है, उससे सम्मार्जन का विधान नहीं होता।

श्रुतिबोधित प्रथम उपस्थित ग्रह अभिधान कर श्रुत्यर्थ को उपपन्न करता है। के तात्पर्य—अथवा पदों में अन्वय—की अस्ति सिर उठती है। पर 'ग्रहं सम्माष्टि' वचन इसलिए लक्षणा के उभरने का यहाँ कोई ग्रहों में व्यवस्थित समझना चाहिए।

वैदिक वाक्यों के तात्पर्य को समझने में नहीं रहते। 'भोजन-समय आ गया है, यहाँ में वक्ता का तात्पर्य भोजन में उपयोगी सब—यह 'भोजन-समय आ गया है' कथन से भोजनोपयोगी पात्रों का उपलक्षण माना जा के तात्पर्य की उपपत्ति में सहयोग मिलता की कल्पना ठीक है। इसके विपरीत वैदिक वाक्यों 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार श्रुत्यर्थ को समझने का प्रयास किया जाता है। उसकी की कल्पना व्यर्थ रहती है, फलतः सम्मार्जन चमसादी सम्मार्गाद्यप्रयोगादधिकरणम्—(८)।

श्रुतिबोधित अर्थ—ग्रह को छोड़कर के लिए इधर-उधर नहीं भाँक सकता। यह 'सम्माष्टि' कथन प्रमत्तगीत के समान प्रमाण इसलिए 'ग्रह'-पद यहाँ से अतिरिक्त अर्थ करेगा; केवल ग्रहों को लक्षित कर उनके अर्थ वचन है, यह निश्चित होता है।

अपूर्व के सम्बन्ध और प्रकरण की सम्मार्जन की प्राप्ति कही, वह युक्त नहीं है। अपूर्व की कल्पना व्यर्थ है। प्रकरणगत पद होने पर उन पदार्थों में सम्मार्जन का विधान सम्मार्जन की एकवाक्यता साक्षात् श्रुतियों पदार्थों के साथ प्रकरण से अनुमित होती है, उससे सम्मार्जन का विधान नहीं होता।

श्रुतिबोधित प्रथम उपस्थित ग्रह अभिधान कर श्रुत्यर्थ को उपपन्न करता है। के तात्पर्य—अथवा पदों में अन्वय—की अस्ति सिर उठती है। पर 'ग्रहं सम्माष्टि' वचन इसलिए लक्षणा के उभरने का यहाँ कोई ग्रहों में व्यवस्थित समझना चाहिए।

वैदिक वाक्यों के तात्पर्य को समझने में नहीं रहते। 'भोजन-समय आ गया है, यहाँ में वक्ता का तात्पर्य भोजन में उपयोगी सब—यह 'भोजन-समय आ गया है' कथन से भोजनोपयोगी पात्रों का उपलक्षण माना जा के तात्पर्य की उपपत्ति में सहयोग मिलता की कल्पना ठीक है। इसके विपरीत वैदिक वाक्यों 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार श्रुत्यर्थ को समझने का प्रयास किया जाता है। उसकी की कल्पना व्यर्थ रहती है, फलतः सम्मार्जन चमसादी सम्मार्गाद्यप्रयोगादधिकरणम्—(८)।

(सप्तदशारत्नितायाः पशुधर्मताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वाजपेय याग के विषय में सुना जाता है—‘सप्त-दशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति’ सत्रह अरत्नि-परिमाणवाला वाजपेय याग का यूप होता है। यहाँ सन्देह है—क्या यह सत्रह अरत्नि-परिमाण वाजपेय याग के षोडशपात्र का है जो ऊपर को अधिक ऊँचा उठा हुआ यूप के समान दिखाई देता है? अथवा वाजपेय याग में पशु के यूप का परिमाण है? प्रतीत होता है यह परिमाण वाजपेय याग के षोडशिनामक ऊर्ध्वपात्र का होना चाहिए; क्योंकि वाजपेय याग में पशुयूप का अभाव है। इसलिए वाजपेय याग के षोडशिनामक यूप-सदृश ऊर्ध्वपात्र का यह परिमाण हो सकता है। यह पात्र खैर की लकड़ी से बना, ऊँचा होने के कारण यूप की तरह दिखाई देता है। ऐसा मानने पर वाजपेय याग के अङ्गभूत पशुयाग में वास्तविक यूप के उपस्थित होने पर भी वाजपेय पद की लक्षणावृत्ति से पशुयाग में प्रवृत्ति की आवश्यकता न होगी।

यहाँ ऐसा कहना उपयुक्त न होगा कि यूप पद भी तो लक्षणावृत्ति से षोडशिनामक खादिर ऊर्ध्वपात्र के बोध कराने में प्रवृत्त हो रहा है। तब वाजपेय पद लक्षणावृत्ति से पशुयाग अर्थ का बोध कराये, तो इसमें क्या अन्तर है? वस्तुतः इसमें अन्तर है, यह प्रकरण वाजपेय-याग का है। उसमें वाजपेय पद के मुख्यार्थ को स्वीकार करना ही चाहिए। इससे प्रकरण उपपन्न व अनुगृहीत रहता है। इसलिए वाजपेय-प्रसंग में अरत्नि-परिमाण ‘यूप’-पदबोध्य खादिर ऊर्ध्वपात्र का होना सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का निर्णयात्मक समाधान किया—

आनर्थक्यात् तदङ्गेषु ॥१८॥

[आनर्थक्यात्] प्रधान कर्म में किसी विधि के अनर्थक होने से [तदङ्गेषु] उस प्रधान कर्म के अङ्गभूत कर्मों में उसका विधान जानना चाहिए।

वाजपेय याग सोमयागविशेष है; उसमें यूप का कोई उपयोग नहीं होता। परन्तु उसके अङ्गभूत पशुयाग में पशु को बाँधने के लिए यूप का उपयोग होता है। जब वाजपेय में यूप का अभाव है, तब ‘सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति’ सत्रह अरत्नि परिमाणवाला वाजपेय का यूप होता है, यह कथन अनर्थक हो जाता है। क्योंकि जब वाजपेय में यूप होता ही नहीं, तो धर्मो यूप के अभाव में उसके धर्म—‘सत्रह अरत्नि-परिमाण’ का कथन करना व्यर्थ है। सूत्रकार ने बताया—

१. ‘अरत्नि’ परिमाण (नाप) कितना होता है? इसमें विभिन्न विचार हैं। सम्भव है, वह भेद कालभेद के कारण रहा हो। पर अब यह परिमाण— हाथ को फँलाकर कनी अंगुली के सिरे से अंगूठे के सिरे तक—माना जाता है, जो लगभग बारह अंगुल होता है।

ऐसी स्थिति आने पर प्रधानभूत कर्म के अङ्गभूत कर्मों में उस विधि का प्रयोग कर लिया जाता है, यदि अङ्गभूत कर्म में उसके उपयोग का अवसर है।

प्रस्तुत प्रसंग में वाजपेय-याग के अङ्गभूत पशुयाग में पशु को बाँधने के लिए यूप का उपयोग है। उसी यूप का परिमाण सत्रह अरत्नि बताया गया है। यह पशुयाग वाजपेय-याग का अङ्ग होने से वाजपेय-याग की सीमा से बाहर न होने के कारण उसे वाजपेय नाम से कहे जाने में कोई बाधा नहीं है। ऐसा मानने पर 'वाजपेय' या 'यूप' किसी पद के मुख्यार्थ का परित्याग कर लक्षणावृत्ति से अर्थ करने या समझने की आवश्यकता नहीं रहती। फलतः सप्तदशारत्निता वाजपेय-याग के किसी पात्रविशेष का धर्म न होकर वाजपेय-याग के अङ्गभूत पशुयाग-सम्बन्धी यूप का धर्म है, यह निश्चित है ॥१८॥ (इति सप्तदशारत्नितायाः पशु-धर्मताऽधिकरणम्—६)।

(अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राऽङ्गताधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्शपूर्णमास के प्रयाजयाग-सम्बन्धी वाक्यों के विषय में कहा है—'अभिक्रमं जुहोति अभिजित्यं' आगे बढ़ते हुए आहुति देता है, सब ओर से जय के लिए। यहाँ सन्देह है—क्या यह अभिक्रमण (आहुति देते समय आगे बढ़ना) केवल प्रयाजों का धर्म है? अथवा दर्शपूर्णमास-प्रकरण में विहित सभी कर्मों का? यह केवल प्रयाजयागों का धर्म हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, अभिक्रम—आगे बढ़ना, क्रिया है। क्रिया अमूर्त है, यह प्रयाजयागों का उपकारक या साधक नहीं हो सकती। क्रिया का साधन क्रिया नहीं होती। द्रव्य, देवता, यजमान (=कर्ता) मूर्त तत्त्व यागादि क्रिया के साधन माने जाते हैं। समस्त कर्म इन्हीं से सिद्ध होते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है, प्रकरणगत पाठ केवल 'अभिक्रमं जुहोति' है; सामान्य कथन है। यदि इसका प्रयाजयागों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय, तो वाक्यभेद होगा। तब वाक्य ऐसा मानना होगा—'अभिक्रमं जुहोति प्रयाज-यागेषु' जो अशतस्वीय है। अतः अभिक्रमण को दर्श-पूर्णमास प्रकरण का धर्म मानना युक्त है। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

कर्त्तृगुणे तु कर्मासमवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥

[कर्त्तृगुणे] अभिक्रमण कर्त्ता का गुण होने पर [तु] तो [कर्मासमवायात्] अभिक्रमण कर्म का 'जुहोति' कर्म के साथ सम्बन्ध न होने से [वाक्यभेदः] वाक्यभेद [स्यात्] प्राप्त होगा।

'अभिक्रमं जुहोति' में 'अभिक्रमं'-पद क्रियाविशेषण है—'अभिक्रमं यथा स्यात् तथा जुहोति' आगे बढ़ना जैसे हो, वैसे होम करता है। इससे स्पष्ट है,

आगे बढ़ना कर्त्ता का गुण है। इससे यह अर्थ ज्ञात नहीं होता कि केवल प्रयाज-यागों में आगे बढ़कर आहुति दी जाय। इसलिए प्रयाजों के साथ अभिक्रमण की एकवाक्यता न मानकर समस्त दर्शपूर्णमास-प्रकरण के साथ मानी जानी चाहिए। तात्पर्य है, प्रकरण-मात्र में आहुति देना आदि जो भी कार्य किया जाय, वह अभिक्रमणपूर्वक किया जाना चाहिए। केवल प्रयाजयागों के लिए ऐसा मानना युक्त न होगा, क्योंकि वहाँ 'जुहोति' आख्यात-पद आहुति देने में पुरुष-प्रयत्न को कह सकता है, पुरुष के अतिक्रमण-सम्बन्ध को नहीं कह सकता। यहाँ पर यह कहना संगत न होगा कि प्रकरण में अन्यत्र भी पुरुष के अभिक्रमण-सम्बन्ध का विधान क्यों माना जाय? क्योंकि प्रकरण में पठित होने से उसका अङ्ग होने के कारण वह कथन अभिक्रमण की कर्त्तव्यता को बतायेगा। प्रकरण में जहाँ अपेक्षित हो, तदनुसार कार्य करना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्याद् असमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

[तु] 'तु' जिज्ञासा के निवारण का चोत्तर है। तात्पर्य है, अभिक्रमण का सम्पूर्ण दर्श-पूर्णमास प्रकरण में सम्बन्ध बताना युक्त नहीं है। क्योंकि [साकाङ्क्षम्] एक-दूसरे की आकांक्षा रखनेवाला पद-समुदाय [एकवाक्यम्] एकवाक्य [स्यात्] होता है। [पूर्वेण] पहले 'अभिक्रमम्' पद के साथ [हि] निश्चय से [असमाप्तम्] वाक्य समाप्त नहीं होता है।

'अभिक्रमं जुहोति' यह पूरा वाक्य है। अपने पूरे अर्थ को प्रकट कर ये पद निराकांक्ष हो जाते हैं; अर्थाभिव्यक्ति के लिए अन्य किसी पद की चाहना नहीं रखते। पर केवल 'अभिक्रम' पद के साथ वाक्य को समाप्त नहीं होती; अर्थात् उतना ही पद किसी पूरे अर्थ को प्रकट नहीं करता। यदि वाक्य की समाप्ति वहाँ हो जाती, तो उसका सम्बन्ध पूरे दर्श-पूर्णमास प्रकरण के साथ कहा जा सकता था, क्योंकि वह प्रकरण में पठित है। इसलिए साकांक्ष 'अभिक्रमम्'-पद अपने साथ अव्यवहित पठित 'जुहोति' के साथ सम्बद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रकरण दर्श-पूर्णमास का है, पर प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है; और यह वाक्य प्रयाज-यागों के साथ पठित है, अतः प्रयाजों में ही अभिक्रमण होगा; दर्श-पूर्णमास प्रकरण के अन्य कार्यों में नहीं।

अभिक्रमण अमूर्त होने से होम की सिद्धि में उसे असमर्थ बताना युक्त नहीं। भले ही वह अपने रूप में अमूर्त हो, पर कर्त्ता के साथ सम्बद्ध होकर मूर्त-जैसा होता हुआ होम का उपकारक होता है। अभिक्रमण करता हुआ अर्थात् आगे बढ़ता हुआ यजमान आहुतनीय के समीप जाकर आहुति-प्रदान द्वारा होम को सिद्ध करता है। फलतः अभिक्रमण का सम्बन्ध प्रयाजयागों से जानना चाहिए,

अन्यत्र नहीं। वह केवल प्रयाजयागों का धर्म है ॥२०॥ (इति अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राङ्गताङ्घ्रिकरणम्—१०)।

(उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताङ्घ्रिकरणम्—११)

धिष्य जिज्ञासा करता है—तैत्तिरीय संहिता [काण्ड २, प्रपाठक ५] के सप्तम-अष्टम ब्राह्मण-अनुवाक में दर्श-पूर्णमास की सामिधेनियाँ कही हैं। नवम अनुवाक में निवित् नामक मन्त्र पठित हैं। दशम अनुवाक में सामिधेनियों के विविध पक्ष बताये गए हैं कि विभिन्न कामनावालों की कितनी-कितनी सामिधेनियाँ बोली जानी चाहिएँ। एकादश अनुवाक में यज्ञोपवीत का कथन है—‘उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुस्ते’ जो उपव्यान करता है, अर्थात् दायाँ हाथ बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करता है, वह देवों के चिह्न को प्रकट करता है। इस प्रसंग में सन्देह है—क्या केवल सामिधेनी मन्त्रों को पढ़ता हुआ वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करे? अथवा दर्श-पूर्णमास प्रकरण में सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हुए उपव्यान (=दायाँ हाथ बाहर निकालकर वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण) करे? सन्देह का कारण इस स्थिति का पता न लगना है कि उपवीत सामिधेनी के प्रकरण में पढ़ा है? अथवा सामिधेनियों का प्रकरण समाप्त हो जाने पर पढ़ा है?

प्रतीत होता है, दशम अनुवाक तक सामिधेनियों का प्रकरण चालू है। उसके अनन्तर उपवीती होने का उल्लेख है। नवम अनुवाक में निवित् मन्त्रों के पाठ से सामिधेनियों के प्रकरण में कोई व्यवधान नहीं होता। उसके अव्यवहित समीप-पठित है उपवीत वाक्य। तब ‘सामिधेनीरनुब्रूयात्’ वाक्य को यह आकाङ्क्षा रहती है कि सामिधेनियों को किस प्रकार बोले? यह आकाङ्क्षा समीप-पठित उपवीत वाक्य से निवृत्त हो जाती है। उपवीति’ होकर सामिधेनी

१. “उपवीत = यज्ञोपवी = जनेऊ का स्वरूप—‘कर्तुंश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम’ इससे स्पष्ट होता है—यज्ञोपवीत = जनेऊ का जो त्रिवृत् तन्तुस्वरूप है, वह अर्वाचीन है। प्राचीन काल में दुपट्टे को धारण करने की ही तीन विधियाँ—उपवीत, प्राचीनावीत और निवीत कहाती थीं। मानुष कर्म—सभा आदि में उपास्थिति के समय दुपट्टे को गले में डालकर दोनों छोर आगे लटकाये जाते थे [ऐसी प्रथा अभी भी कहीं-कहीं है]। यज्ञकर्म और पितृकर्म करते समय दुपट्टे के लटकनेवाले दोनों छोर कर्म में याघक न हों, इसलिए यज्ञकर्म के समय दाहिने कन्धे पर आनेवाले छोर को पीछे की ओर दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर बायें कन्धे पर डाला जाता था। यही दुपट्टा-धारण का रूप ‘उपवीत’ कहाता था। पितृकर्म में उक्त

ऋचाओं को पढ़े। इससे ज्ञात होता है, उपवीति होना सामिधेनियों का धर्म

विधि से उलटा बाएँ हाथ के नीचे से उस छोर को निकालकर दाहिने कंधे पर डाला जाता था। यह स्वरूप 'प्राचीनावीत' था। मानुष कर्म में दुपट्टे के दोनों छोर आगे की लटकाना 'निवीत' कहाता था।'

अन्य प्रमाण—धर्मशास्त्रों में स्नातक-नियमों में उत्तरीय वस्त्र (=शरीर ढाँपने का वस्त्र चादर) के अभाव में द्वितीय यज्ञोपवीत धारण करने का विधान उपलब्ध होता है। उत्तरीय वस्त्र का प्रयोजन तन्तुरूप यज्ञोपवीत से सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे विदित होता है कि पुराकाल में यज्ञोपवीत दुपट्टा-जैसा वस्त्रविशेष ही था, जिसे आवश्यकता पड़ने पर उत्तरीय वस्त्र के रूप में धारण किया जा सकता था। 'महाभारत' में भीष्म के वर्णन में लिखा है—'श्वेतयज्ञोपवीतवान् शुशुभे च पितामहः।' 'उपव्ययते देवलक्षममेव तत्कुस्ते' [तै० सं० २।५।११] से भी इसे देवचिह्न कहा है। 'कादम्बरी' में भी महाश्वेता के वर्णन में 'यज्ञोपवीतेनालंकृताम्' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वहाँ भी यज्ञोपवीत को अलंकारक कहा है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक—यज्ञोपवीत वस्त्र के ऊपर धारण किया जाता था; दूसरी—यह शोभा का कारण भी बनता था। तन्तुरूप यज्ञोपवीत सूक्ष्म होने से शोभा वा अलंकार का कारण उपपन्न नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि तन्तुरूप यज्ञोपवीत का स्वरूप अर्वाचीन है। उसका वस्त्र के नीचे धारण करना तो सम्भवतः मध्यकाल में हुआ है। इस दृष्टि से जो लोग तन्तुरूप यज्ञोपवीत के विधान के लिए मन्त्रों में प्रयुक्त त्रिवृत् शब्द का आश्रय लेते हैं, और इसके एक-एक तन्तु के प्रयोजन वा माहात्म्य के वर्णन में आकाश-पाताल एक कर देते हैं, वह सब यज्ञोपवीत के प्राचीन स्वरूप को मथावत् न जानने से चिन्त्य है। वस्त्ररूप यज्ञोपवीत देव, पितर वा मानुष कर्म के समय में ही धारण किया जाता था। शयनकाल में वह वस्त्र खूँटी पर टाँग दिया जाता था।

श्रीचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण—जयपुर के राजगुरु स्व० श्री पं० मधुसूदन जी ओझा ने सन् १९३१ में शतपथ ब्राह्मण पढ़ाते हुए, एक शिष्य द्वारा श्रीचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण पूछने पर आपने कहा था—'श्रीचादि के समय कान की नस से ब्रह्मप्राण बाहर निकलता है, उसे रोकने के लिए कान पर जनेऊ लपेटा जाता है।' यज्ञोपवीत-संस्कार से पूर्व या संन्यास के समय यज्ञोपवीत त्यागने पर भी ब्रह्मप्राण निकलता रहेगा, ऐसा मेरे पूछने पर कहा कि यज्ञोपवीत-संस्कार के समय ही ब्रह्मप्राण उत्पन्न होता है, और संन्यास-संस्कार से

मानना चाहिए; समस्त दशपूर्णमास-प्रकरण का नहीं। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में निर्णय दिया—

सन्दिग्धे तु व्यवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

[तु] 'तु' पद पूर्वकथन की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् उपवीत का केवल सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध है, यह ठीक नहीं। [सन्दिग्धे] प्रकरण की समाप्ति-विषयक सन्देह होने पर [व्यवायात्] निवृत्ति पदों के व्यवधान से [वाक्यभेदः] यज्ञोपवीत-विधायक वाक्य का सामिधेनी से भेद [स्यात्] हो जाता है। तात्पर्य है, यज्ञोपवीत वाक्य केवल सामिधेनी के साथ सम्बद्ध न होकर समस्त दश-पूर्ण-मास प्रकरण के साथ सम्बद्ध होता है।

सन्देहमूलक जिज्ञासा में कहा गया है कि सन्देह का कारण सामिधेनियों के प्रकरण की समाप्ति का पता न लगना है। सूत्रकार ने बताया, ऐसा सन्देह होने पर सामिधेनी-प्रकरण की समाप्ति का निश्चय निवृत्ति मन्त्रों के व्यवधान से हो जाता है। सप्तम-अष्टम अनुवाक में सामिधेनी ऋचा पठित हैं। नवम अनुवाक में निवृत्ति-संज्ञक मन्त्रों का कथन है। ये सामिधेनी ऋचाओं से भिन्न हैं। इससे स्पष्ट होता है, सामिधेनी-प्रकरण समाप्त है। उपवीत का विधान आगे एकादश अनुवाक में हुआ है। निवृत्ति का व्यवधान सामिधेनी-वाक्यों और उपवीत-वाक्यों को एक-दूसरे से अलग कर देता है। इस कारण उनकी एकवाक्यता न हो सकने के कारण उपवीत का सम्बन्ध सामिधेनियों से नहीं जोड़ा जा सकता।

दशम अनुवाक में सामिधेनियों के काम्य-मूलक विविध संख्याओं का जो निर्देश है, उसका सम्बन्ध केवल संख्याविषयक विकल्पों के साथ कहा जा सकता है। वह निर्देश सामिधेनियों की अनुवृत्ति का प्रयोजक नहीं है। उस अनुवाक में केवल इतना निर्देश है कि अमुक कामनावाला व्यक्ति इतनी सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करे, तथा अमुक कामनावाला इतनी ऋचाओं का। यह कामना के अनुसार सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के विकल्पों का उल्लेख है। इसका सम्बन्ध केवल संख्या-विकल्पों से है, सामिधेनी-प्रकरण से नहीं। तात्पर्य है, यह कथन सामिधेनियों का यहाँ अनुवर्तन नहीं कर सकता। अतः इस आधार

समाप्त हो जाता है। स्त्री और शूद्रों में ब्रह्मप्राण होता ही नहीं है। ऐसी बिना सिर-पैर की कल्पना भी सर्वथा हेय है। कान पर जनऊ लपेटने में सीधा-सादा दृष्ट प्रयोजन है। अशुचि-अवस्था में सम्भाषण आदि का धर्मशास्त्रों में निषेध किया है। कान पर जनऊ लपेटने से यह विदित हो जाता है कि यह व्यक्ति सम्प्रति अशुचि है, अतः इससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए।" (यु० मी०)।

पर कि दशम अनुवाक के समीप एकादश अनुवाक में उपव्यान का विधान है, नवम अनुवाक में पठित सामिधेनियों के साथ उपव्यान का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

फलतः समस्त दश-पूर्वभास प्रकरण में तथा अन्यत्र भी जो यज्ञिय कर्म अनुष्ठेय हैं, उन सब कर्मों में उपवीती होकर ही यजमान प्रवृत्त होगा। सामिधेनी ऋचाओं के पाठ उसी में अन्तर्गत है ॥२१॥ (इति उपवीतस्य प्राकरणिकाञ्ज-ताऽधिकरणम्—१२)।

(वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताऽधिकरणम्—१२)

✓ शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्न्याधेय प्रकरण में वारण, वैकङ्कत नामक पात्रों का उल्लेख है। वरण (वरना) नामक वृक्ष की लकड़ी से बना पात्र वारण है। उसके विषय में लिखा—‘तस्माद् वारणो वं यज्ञावचरः स्यात्, न त्वेतेन जुहुयात्’ वरण की लकड़ी का बना यज्ञसाधन पात्र होता है, इससे होम न करे, यह अहोम है। ऐसे ही कहा—‘वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेतेन’ विकङ्कत (बाँफ) की लकड़ी से बना यज्ञसाधन पात्र होता है, इससे होम करे। वारण, वैकङ्कत पात्र यद्यपि अग्न्याधेय प्रकरण में पठित हैं, पर ये अग्न्याधेय से सम्बद्ध नहीं हैं। क्योंकि उक्त वाक्यों में इनको ‘यज्ञावचरः’ = यज्ञसाधन कहा गया है। यज्ञ तो अग्नि का आधान हो जाने पर आहवनीय अग्नि में हो सकता है। प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से अग्न्याधेय में इनका प्रयोग नहीं होता; ये यज्ञसाधना पात्र हैं। यहाँ सन्देह है—क्या समीप-पठित होने से इन पात्रों का प्रयोग केवल अग्न्याधेय की पवमान-संज्ञक इष्टियों में होता है? अथवा दर्श-पूर्वभास आदि सभी यागों में? प्रतीत होता है, इनका प्रयोग पवमान इष्टियों में होना चाहिए। यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है—प्रधान कर्म में जिसका उपयोग न हो, वह उसके [प्रधान कर्म के] गुणभूत कर्म का अङ्ग माना जाता है। अग्न्याधेय प्रधान कर्म में इन पात्रों का उपयोग न होने पर अग्न्याधेय के गुणभूत कर्म पवमान-संज्ञक इष्टियों में इनका उपयोग माना जाना चाहिए, अन्यत्र नहीं। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥

[गुणानाम्] गुणों के [परार्थत्वात्] परार्थ = यज्ञ के लिए होने के कारण [च] और [समत्वात्] अग्नि के संस्कार में अग्न्याधान तथा पवमान हवियों के समान होने के कारण [असम्बन्धः स्यात्] वारण, वैकङ्कत पात्रों का पवमान हवियों के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

पवमान हवियों को अग्न्याधेय का अङ्ग बताकर जो उक्त पात्रों का सम्बन्ध

केवल पवमान हवियों के साथ कहा, वह इसलिए अयुक्त है, क्योंकि आचार्य सूत्रकार ने आगे स्वर्यं बताया है कि पवमानेष्टि अग्न्याधेय का अङ्ग नहीं है। ये दोनों समान प्रयोजनवाले कर्म हैं, इनमें कोई किसी का अङ्ग नहीं। जैसे अग्नि संस्कार के लिए अग्न्याधान होता है, वैसे ही अग्नि संस्कार के लिए पवमान हवियाँ हैं। इसलिए इन गुणभूत कर्मों के समान होने के कारण इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों अग्नि संस्कार के लिए होने के कारण अग्नि के प्रति गुणभूत हैं। तात्पर्य है, ये दोनों अग्नि संस्कार के अङ्ग हैं। फलतः अग्न्याधेय के अङ्ग होने के आधार पर पवमान हवियों के साथ उक्त पात्रों का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

अग्नि का आधान और पवमान हवियों के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न व्यर्थ है, क्योंकि इन दोनों कर्मों का एक प्रयोजन—अग्नि संस्कार—है; यही इनका सम्बन्ध है। यह कहना ठीक है कि ये पात्र अग्न्याधेय-प्रकरण में पठित हैं; पर प्रकरण की बाधा कर वाक्य उनका सम्बन्ध आहवनीय अग्नि के साथ जोड़ता है। वाक्य है—‘यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति’ जो आहवनीय अग्नि में आहुति देता है, उससे यह यजमान अग्नि का अभीष्ट और प्रिय होता है।

इस वाक्य में आहवनीय अग्नि को याग का आधार बताने का तात्पर्य यही है कि याग आहवनीय अग्नि के लिए है। पवमान हवियों का भी प्रयोजन आहवनीय अग्नि का संस्कार है; अतः वे भी आहवनीय अग्नि के लिए हैं। उनकी सार्थकता इसी में है। ये सब प्रधानभूत आहवनीय अग्नि के अङ्ग होकर यागादि द्वारा स्वर्ग के साधनभूत अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। फलतः उक्त पात्रों का आहवनीय अग्नि के साथ सीधा सम्बन्ध होने से अग्नि साध्य समस्त दर्श-पूर्णमास आदि कर्मों में उनका उपयोग होता है, केवल पवमान हवियों में नहीं, भले ही उनका पाठ आधान-प्रकरण में हुआ हो। दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी समस्त कर्मों में इन पात्रों का उपयोग होने से पवमान हवियों में भी प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि पवमानेष्टि दर्श-पूर्णमास का विकृतिरूप है, उनके अन्तर्गत आ जाती है ॥२२॥ (इति वारणर्वकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणतार्द्धिकरणम्—१२)।

(वात्रंघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गतार्द्धिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में वानय पठित हैं—‘वात्रंघ्नी पूर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम्।’ वृत्रघ्न-सम्बन्धी दो अनुवाक्या पूर्णमासी में पढ़ी जाती हैं; ‘वृध’ वाली अमावास्या में। यहाँ सन्देह है—दो

अनुवाक्या पढ़े जाने का सम्बन्ध प्रधान कर्म के साथ है ? अथवा आज्यभाग के साथ ? प्रधान कर्म = पौर्णमास व दश के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वाक्य में 'पौर्णमासी' 'अमावास्या' पद पढ़े हैं, जो प्रधान कर्म के द्योतक हैं। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

[च] 'च' पद भिन्नक्रम है, अर्थात् जिज्ञासा में प्रतिपादित अर्थ से भिन्न अर्थ का द्योतक है। तात्पर्य है, दो वार्त्रघ्नी अनुवाक्या और दो वृधन्वती अनुवाक्या का सम्बन्ध प्रधान कर्म से नहीं है; [मिथः] युगल का प्रधान कर्म के साथ [अनर्थसम्बन्धात्] अर्थपूर्ण = सप्रयोजन सम्बन्ध न होने के कारण।

(क) वार्त्रघ्नी = वृत्रघ्न-सम्बन्धी दो अनुवाक्या ऋचा हैं—

१. अग्निवृत्राणि जङ्घनव् द्रविणस्युविपन्थया ।

समिद्धः शुक्र आहुतः ॥—ऋ० ६।१६।३३ ॥

—तै० सं० ४।३।१३।१॥ मी० सं० ४।१०।१॥

यह वार्त्रघ्नी आग्नेयी = अग्निदेवतावाली अनुवाक्या है।

२. त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा ।

त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ ऋ० १।६।१५ ॥

—तै० सं० ४।३।१३।१॥ मी० सं० ४।१०।२॥

यह वार्त्रघ्नी सोमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या है।

(ख) वृधन्वती = 'वृध' धातु के रूप से युक्त दो अनुवाक्या ऋचा हैं—

१. अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्वं स्वाम् ।

कविप्रिण वावृधे ॥ ऋ० ८।४।१२ ॥

—तै० ब्रा० ३।५।६।१॥ मी० सं० ४।१०।१।१६ ॥

यह वृधन्वती आग्नेयी = अग्नि देवतावाली अनुवाक्या है।

२. सोम गोभिष्ट्वा वयं वर्षयाभो वज्रोविदः ।

मुमुडोको न आ विश ॥ ऋ० १।६।११ ॥

—तै० ब्रा० ३।५।६।१॥ मी० सं० ४।१०।१।१६ ॥

यह वृधन्वती सोमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या है।

मिनी हुई (युगल) दो-दो अनुवाक्याओं का प्रधान कर्म में कोई कार्य नहीं है। जिस कर्म में दो अनुवाक्याओं का कार्य है, वहाँ इनका विधान जानना चाहिए। आज्यभाग में दो आहुतियाँ दी जाती हैं, वहाँ दो अनुवाक्या आप्नेयी (एक वार्त्रघ्नी, एक वृधन्वती) और दो अनुवाक्या सौमी (एक वार्त्रघ्नी, एक वृधन्वती) प्राप्त हैं। इसलिए आज्यभाग में ही इनका सम्बन्ध जानना चाहिए; प्रधान कर्म में नहीं।

यद्यपि ये युगल अनुवाक्या प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित हैं, पर अमावास्या के दिन सौमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या से दर्श-याग में आहुति नहीं दी जाती; क्योंकि उस दिन सोम देवता है ही नहीं। इसलिए एक आहुति वार्त्रघ्नी आप्नेयी अनुवाक्या से और एक वृधन्वती आप्नेयी अनुवाक्या से दी जाती है। प्रधान कर्म में युगल का उपयोग सम्भव नहीं है। वहाँ एक ही एक आहुति का विधान है।

पूणमासी के दिन भी सौमी अनुवाक्या अग्नीषोमीय याग में ही विधान की जाती हुई विहित होगी। पर वहाँ भी एक सोम देवतावाली सौमी अनुवाक्या देवताओं के द्वित्व में कार्य नहीं कर सकेगी। तात्पर्य है, एक देवतावाली सौमी अनुवाक्या दो देवतावाले कर्म की अनुवाक्या नहीं बन सकेगी। यद्यपि आप्नेयी और सौमी दोनों अनुवाक्या अग्नीषोमीय याग में प्राप्त होती हैं, पर वहाँ एक याग में दो अनुवाक्याओं से कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि एक याग की एक ही अनुवाक्या होती है। आवश्यकतानुसार ही अनुवाक्या का उपादान किया जाता है। वहाँ एकत्व विहित है। इससे भी अग्नीषोमीय याग में दो अनुवाक्या मान्य नहीं हैं। फलतः आज्यभाग में दो वार्त्रघ्नी और दो वृधन्वती अनुवाक्याओं का सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण है।

अनुवाक्या के लिए प्रायः पुरोनुवाक्या पद का व्यवहार होता है। याज्या से पूर्व पढ़े जाने के कारण इसका नाम पुरोनुवाक्या है। इस अधिकरण में प्रसंगवश जिन ऋचाओं का उल्लेख हुआ है, वे 'सामिधेनो ऋक्' नाम से भी व्यवहृत होती हैं। इनका उच्चारण कर आहवनीय अग्नि में समिधा की आहुति दी जाती है। उक्त नामकरण का यही कारण है ॥२३॥ (इति वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्य-भागाङ्गताऽधिकरणम्—१३)।

(मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम्—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम-प्रकरण में कतिपय वाक्य इस प्रकार पठित हैं—'मुष्टी करोति वाचं यच्छति, दीक्षितमावेदयति' इति, तथा 'हस्ता-ववनेनिक्ते, उलपराजि स्तृणाति'—मुष्टी बाँधता है, वाणी संयम करता है अर्थात् मौन होता है, दीक्षित को आवेदन करता है। यहाँ सन्देह है—मुष्टी बाँधना, मौन

होना क्या दीक्षित के आवेदन के लिए है ? अथवा समस्त प्रकरण के साथ इसका सम्बन्ध है ? इसी प्रकार हाथ धोना है, घास के तिनकों की पंक्ति बिछाना है । यहाँ हाथ धोना क्या घास-तृणों की पंक्ति बिछाने के साथ सम्बद्ध है ? अथवा समस्त प्रकरण के साथ सम्बद्ध है ?

प्रथम तीनों वाक्य अव्यवहित रूप में पठित हैं । मुट्टी बाँधना, और वाक्-संघम का क्या प्रयोजन है ? यह आकांक्षा होती है । इसका निराकरण अथवा आकांक्षा की पूर्ति समीप-पठित वाक्य — दीक्षितमावेदयति' से तत्काल हो जाती है । इससे प्रतीत होता है—मुट्टी बाँधना और मौन होना, दीक्षित के आवेदन से सम्बद्ध है ।

जब कोई व्यक्ति ज्योतिष्ठोम याग के लिए दीक्षा लेता है, तब अन्य प्रथम दीक्षित व्यक्ति ऊँचे स्वर से घोषणा करता है —'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' यह वैदिक कर्म में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति ज्योतिष्ठोमादि अनुष्ठान के लिए दीक्षित हो गया है । हाथ और वाणी की चपलता से दूर होकर यह घोषणा की जानी चाहिए, इसी प्रयोजन से मुट्टीकरण और वाक्संघम का विधान है, दीक्षित आवेदन से ये सम्बद्ध हैं ।

इसी प्रकार हाथ धोने का विधान कर अव्यवहित अनन्तर घास-तृणों के बिछाने का उल्लेख है । हाथ धोना हाथ का संस्कार है । आकांक्षा होती है, यह किसलिए है ? इसका प्रयोजन क्या है ? इस आकांक्षा की पूर्ति अव्यवहित सान्निध्य में पठित 'उलपर्राजि स्तृणाति' वाक्य से हो जाती है, हाथ धोकर घास-तिनकों की पंक्ति बिछाने का विधान है । इस प्रकार मुट्टीकरण, वाग्यमन दीक्षित-आवेदन का धर्म है, तथा हस्तप्रक्षालन उलप-संस्तरण का; प्रकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं । आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥

[आनन्तर्यम्] आनन्तर्यं = अव्यवधान होना, किसी समीप-स्थित पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में [अचोदना] प्रेरक नहीं होता ।

उक्त वाक्यों से जो अर्थ अमिव्यक्त किये गये हैं, वे अपने में पूर्ण हैं । उनकी अर्थपूर्ति के लिए कोई आकांक्षा वहाँ नहीं उभरती । अव्यवहित सान्निध्य भी इसका प्रेरक नहीं होता कि समीप-स्थित वाक्य के साथ उसका सम्बन्ध मान लिया जाय, जबकि प्रथम वाक्य अपनी अर्थाभिव्यक्ति में पूर्ण है, निराकांक्ष है । अन्यथा 'घटमाहर, गां नथ'—'एक घड़ा पानी भर लाओ, गाय ले जाओ' इनका भी परस्पर सान्निध्य होने सम्बन्धी माना जाना चाहिए । जैसे ये वाक्य अपने अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण हैं, ऐसे ही 'मुट्टी करोति' आदि वाक्य अपने अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण हैं । समीप-पठित वाक्य से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है

इसलिए जिस प्रकरण में पठित है, उस समस्त प्रकरण के साथ उनका सम्बन्ध है; केवल दीक्षित-आवेदन तथा उलप-संस्तरण के साथ नहीं। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो क्या मुष्ठीकरण, वाग्यमन केवल दीक्षित-आवेदन में सीमित होगा? तथा अन्य सब कर्मों में हाथ और वाणी की चञ्चलता चालू रखी जायगी? और क्या इसी प्रकार उलप-संस्तरण के अतिरिक्त अन्य कर्मों में हाथ मलिन या गन्दे ही रखे जाएंगे? ऐसा होना पवित्र कर्मानुष्ठान के प्रति अथद्धा एवं उपेक्षा की भावना को अभिव्यक्त करेगा। फलतः यह स्पष्ट होता है कि उक्त वाक्यों द्वारा जो अर्थ अभिव्यक्त किये गये हैं, उनका सम्बन्ध प्रकरणगत समस्त कर्मों के साथ है। दीक्षितावेदन, उलप-संस्तरण भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है ॥२४॥

उक्त वाक्यों की पूर्णता को आचार्य सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट किया—

वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥२५॥

[च] और [वाक्यानाम्] वाक्यों के अपने पदसमूह में अर्थाभिव्यक्ति के [समाप्तत्वात्] समाप्त अर्थात् पूर्ण हो जाने के कारण, इन वाक्यों का परस्पर कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

जितने वाक्य गत-सूत्र की अवतरणिका में उद्धृत किये गये हैं, उनमें प्रत्येक वाक्य अपने पदसमूह से अर्थाभिव्यक्ति में परिपूर्ण है। इसलिए प्रत्येक वाक्य का अपना अर्थ स्पष्ट है। वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं, इसलिए निराकाङ्क्ष है, समान रूप से प्रकरण में पठित हैं, अतः प्रकरणगत समस्त कर्मों के साथ उनका सम्बन्ध है ॥२५॥ (इति मुष्ठीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम्— १४)।

(चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताऽधिकरणम्—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में कहा है—‘आग्नेयं चतुर्धा करोति’ अग्निदेवतावाले पुरोडाश के चार भाग करता है। यहाँ सन्देह है—क्या अग्निदेवतावाले, अग्नीषोमीय देवतावाले तथा इन्द्राग्नि देवतावाले सभी पुरोडाशों में चार विभाग करने चाहिएँ? अथवा केवल अग्निदेवतावाले पुरोडाश में? जहाँ भी अग्निदेवता का सम्बन्ध है, उन सभी पुरोडाशों में चतुर्धाकरण होना चाहिए, इस शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

**शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत
मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥**

[तु] आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण तो [शेषः] शेष कर्म है। [गुण-

संयुक्तः] अग्निदेवतारूप गुण से सम्बन्ध है वह चतुर्धाकरणः अतः [साधारणः] सर्वत्र समान [प्रतीयेत] जानना चाहिए। [तेषाम्] उन पुरोडाशों के बीच [मिथः] केवल आग्नेय और चतुर्धाकरण का परस्पर [सम्बन्धात्] सम्बन्ध न होने के कारण, चतुर्धाकरण का सम्बन्ध अग्नीषोमीय ऐन्द्राग्न आदि में सर्वत्र होगा।

चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का अङ्गभूत कर्म है। इसलिए अग्निदेवता का साधारण सम्बन्ध चतुर्धाकरण के साथ होगा। तब अग्निदेवता चाहे सोम के साथ है, अथवा इन्द्र के साथ, उनके उद्देश्य से वने पुरोडाश में भी चतुर्धाकरण प्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ भी अग्निदेवता बँटा है। सर्वत्र पुरोडाशों में अग्निदेवता का निर्वाह सम्बन्ध है। अतः सर्वत्र चतुर्धाकरण होता चाहिए। इसलिए चतुर्धाकरण में यह व्यवस्था नहीं है कि वह केवल आग्नेय पुरोडाश में ही हो।

ऐसा व्यवहार शास्त्र में अन्यत्र देखा जाता है। वाक्य है—'आग्नेयस्य सस्तकं विभज्य प्राशित्रमवद्यति' आग्नेय पुरोडाश के ऊपरी भाग को तोड़कर प्राशित्र-भाग का ग्रहण करता है। यह प्राशित्र-भाग यद्यपि वाक्य में आग्नेय पुरोडाश से लेने को कहा गया है, पर अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों से भी उसका ग्रहण किया जाता है। यह भाग ब्रह्मा के प्राशन—भक्षण के लिए प्राशित्रहरण नामक पात्र में रखा जाता है। इसी आधार पर पुरोडाश के इस भाग का 'प्राशित्र' नाम है। जैसे यहाँ आग्नेय पुरोडाश के लिए कहा गया कार्य अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों में भी व्यवहार्य है, ऐसे ही चतुर्धाकरण भी सर्वत्र पुरोडाशों में जानना चाहिए ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

**व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धात्लक्षणार्था
गुणश्रुतिः ॥२७॥**

[वा] 'वा' पद जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, चतुर्धाकरण सर्वत्र पुरोडाशों में नहीं होता। [अर्थसंयोगात्] अर्थ—पुरोडाश के साथ अग्नि-देवता का सम्बन्ध होने से; और [लिङ्गस्य] अग्निदेवतारूप लिङ्ग का (अर्थेन) अर्थ—पुरोडाश के साथ [सम्बन्धात्] सम्बन्ध होने से चतुर्धाकरण उसी पुरोडाश का होगा, जो केवल अग्निदेवता के उद्देश्य से तैयार किया गया है। (गुणश्रुतिः) देवतारूप गुण का श्रवण यहाँ (लक्षणार्था) लक्षित—चिह्नित—सीमित करने के लिए है—चतुर्धाकरण को। तात्पर्य है—चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का ही होता है, अन्य किसी पुरोडाश का नहीं।

सूत्र में पठित 'वा' पद अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों में चतुर्धाकरण की व्यावृत्ति का द्योतक है, क्योंकि चतुर्धाकरण केवल आग्नेय पुरोडाश में

व्यवस्थित है; पुरोडाशमात्र में सर्वमाधारण नहीं। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य में 'आग्नेयं' पद पुरोडाश का विशेषण है। वह अग्नि एक देवतावाले पुरोडाश को विशेषित करता है, अन्य पुरोडाशों से भिन्न करता है। वाक्य-निर्देश के अनुसार चतुर्धाकरण उठी पुरोडाश में प्रवृत्त होगा, जो एकमात्र देवता अग्नि से विशेषित है। 'आग्नेयम्' पद में पाणिनि [४।२।२३; ४।२।३२] नियम के अनुसार 'अग्नि' प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय उसी अवस्था में होता है, जब वह समर्थ हो। 'समर्थानां हि स उच्यते' तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति पाणिनि [४।१।८२] के नियम के अनुसार समर्थ प्रातिपदिक से कही है। समर्थ के विषय में एक सामान्य नियम है—'निराकाङ्क्षं समर्थं साकाङ्क्षं चासमर्थम्'—जो पद निराकाङ्क्ष है, अपने खड़े होने के लिए दूसरे की आकाङ्क्षा—अपेक्षा नहीं करता, वह समर्थ, और जो अन्य की आकाङ्क्षा करता है, वह असमर्थ माना जाता है। 'अग्नीषोमीयम्' और 'ऐन्द्राग्नम्' पदों में अग्निदेवता की पंक्ति में खड़े होने के लिए सोम और इन्द्र की आकाङ्क्षा रखता है, इसलिए वह असमर्थ है। इस कारण तद्धित-प्रत्ययान्त निरपेक्ष अग्निदेवतावाले 'आग्नेयं' पद से दो देवतावाले पुरोडाश का कथन नहीं होता। इसलिए अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश में चतुर्धाकरण विधान प्रवृत्त न होगा।

सब पुरोडाशों में चतुर्धाकरण के लिए जो प्राशिन्न के ग्रहण का दृष्टान्त दिया है, वह यहाँ संगत नहीं होता। सब पुरोडाशों से प्राशिन्न-भाग ग्रहण करना युक्त है। कारण यह है—जैसे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य पुरोडाश के चतुर्धाकरण का है, वैसे 'आग्नेयस्य प्राशिन्नमवचति' वाक्य यहाँ नहीं है। तात्पर्य है—इस वाक्य की योजना चतुर्धाकरण वाक्य के समान नहीं है। यहाँ 'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य' एक वाक्य है। 'प्राशिन्नमवचति' दूसरा वाक्य है। उसका सम्बन्ध अन्य पुरोडाश-वाक्यों से हो जाता है। अतः प्राशिन्न का ग्रहण सब पुरोडाशों से युक्त है। दश-पूर्णांश में ऐसा नहीं है। यदि वहाँ एक अग्निदेवतावाले पुरोडाश का कथन न होता, तो 'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य' की अनर्थकता के परिहार के लिए दो देवतावाला पुरोडाश भी गृहीत होता ॥२७॥ (इति चतुर्धाकरणस्याग्नेय-मात्राङ्गताऽधिकरणम्—१५)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

(लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाऽधिकरणम्—१)

गत पाद में श्रुति के आधार पर विवादास्पद विधियों का निर्णय किया गया। लिङ्ग क्योंकि श्रुति पर आधारित रहता है, अतः श्रुतिविनियोग के अनन्तर प्रस्तुत पाद में लिङ्ग के आधार पर वचनविनियोग बताया जाता है। लिङ्ग का तात्पर्य है—उन वचनों में अर्थविशेष के बोध कराने का सामर्थ्य। इस अधिकरण में विचारार्थ उदाहरणरूप 'बर्हिर्देवसदनं दामि' वचन है। यहाँ 'बर्हिः' मुख्य पद है, 'देवसदनम्' उसका विशेषण, 'दामि' क्रियापद है। 'देव' पद का अर्थ यहाँ यज्ञ के साधनभूत पदार्थ व पात्र आदि हैं। उनके सदन=आश्रयरूप बर्हि=कुशा को काटता हूँ। अनुष्ठान के समय इन पात्र आदि को नंगी भूमि पर नहीं रक्खा जाता, कुशा विछाकर उसके ऊपर रक्खा जाता है। अर्थ हुआ—यज्ञपात्र आदि के आश्रयभूत कुशाओं को काटता हूँ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इस प्रकार के वचनों का विनियोग क्या मुख्य अर्थ में ही होता है? अथवा गौण अर्थ में भी होता है? जब व्यक्ति सामने से आता दिखाई देता है, पर दूर है, तब उसका पहले-पहल मुख ही दिखाई देता है। इसी प्रकार वचन के सुनने या देखने पर उसका जो अर्थ सहसा सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है, वह मुख के समान होने से मुख्य है। जब व्यक्ति समीप आ जाता है, तब उसके अधोभाग के अङ्ग जंघा आदि दिखाई देते हैं। ऐसे ही वचन के मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाने पर जो अर्थ किसी गुणविशेष के कारण बाद में अभिव्यक्त होता है, वह जंघा के समान होने से ज्वल्य कहा जाता है। गुणविशेष के सहारे उभरने के कारण उसे गौण या अप्रधान कहा जाता है।

लोक में व्यवहार होता है—'अग्निर्माणवकः' यह किशोर बालक अग्नि है। 'अग्नि' शब्द ज्वलन अर्थ में जाना जाता है। उक्त व्यवहार में माणवक को अग्नि कहा। यहाँ अग्नि का मुख्य अर्थ माणवक नहीं है। उसका मुख्य अर्थ ज्वलन ही है। उस अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाने पर उसके सदृश क्रोध, तेजस्विता आदि गुणों के आधिक्य से माणवक के लिए अग्नि पद का प्रयोग गौण है। ये दोनों प्रकार के

प्रयोग मान्य समझे जाते हैं। इसी कारण जिज्ञासा है कि वैदिक वचनों में शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति में ही माना जाय ? अथवा गौण अर्थ की अभिव्यक्ति में भी ? क्योंकि ये दोनों प्रकार के अर्थ शब्द-सामर्थ्य से ही उभरते हैं।

आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

**अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्
तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥**

[अर्थाभिधानसामर्थ्यात्] अर्थ के अभिधान—कवन में—अर्थात् अभिव्यक्त करने में समर्थ होने के कारण [मन्त्रेषु] मन्त्रों में—शास्त्रीय वचनों में [शेष-भावः] क्रतु के प्रति अङ्गभाव [स्यात्] होता है। [तस्मात्] इस कारण कि शब्द का [अर्थेन] मुख्य अर्थ के साथ [नित्यसंयोगात्] नित्य सम्बन्ध होने से [उत्पत्तिसम्बन्धः] शब्द की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति के साथ-ही-साथ अर्थ-सम्बन्ध जाना जाता है। तात्पर्य है, शब्द-अर्थ का परस्पर, नित्य सम्बन्ध होने से शब्द की अभिव्यक्ति के साथ ही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है; अर्थाभिव्यक्ति में शब्द किसी बाह्य-साधन की अपेक्षा नहीं रखता, वह अकृत्रिम है, स्वाभाविक है। शब्द के साहचर्य को अर्थ छोड़ नहीं सकता। शब्द का यह सामर्थ्य है कि जैसे ही शब्द अभिव्यक्त होता है, वह अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है, यह अनिवार्य स्थिति है।

प्रसंग में विचारास्पद शास्त्रीय वचन 'बहिर्देवसदनं दामि' है। यहाँ 'बहि' पद अपने मुख्य अर्थ कुशा-तृण के अर्थ में प्रयुक्त है, कुशा-सदृश के अर्थ में नहीं। क्योंकि एक पद एक ही समय दोनों अर्थों का बोध नहीं करा सकता। उच्चारण के साथ ही पद अपने मुख्य अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। बहि पद कुशा-तृण अर्थ को प्रकट कर क्रतु में उपकारक होता है। ऐसी स्थिति में गौण अर्थ के उभरने का अवसर ही नहीं आता। गौण अर्थ तभी उभरता है, जब मुख्य अर्थ की उपपत्ति सम्भव न हो। 'अग्निमाणवकः' अथवा 'सिंहो माणवकः' आदि वाक्यों में अग्नि अथवा सिंह पद का तेजस्विता या साहस अर्थ तभी उभरता है, जब माणवक में अग्निरूपता व सिंहरूपता असम्भव रहती है। 'बहिः' वाक्य में ऐसा नहीं है। कुशातृण द्वारा यज्ञोपयोगी कार्य के सम्पादन में कोई बाधा या असम्भावना नहीं है। फलतः गौण अर्थ की अभिव्यक्ति में उक्त पद असमर्थ है, तब गौण अर्थ में उसका विनियोग—प्रयोग नहीं माना जा सकता।

शब्द के उच्चरित होते ही मुख्य अर्थ तत्काल उपस्थित होता है, तथा शास्त्रीय वचन के प्रयोजन को पूरा कर देता है। इससे शास्त्रीय वचन सार्थक होकर अन्य (गौण) अर्थ के बोधन में निराकांक्ष हो जाता है। यद्यपि शब्द मुख्य और गौण दोनों अर्थों को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखता है, पर गौण अर्थ

उसी अवस्था में अभिव्यक्त होता है, जब मुख्य अर्थ बाधित या असम्भावित हो। उक्त वचन में ऐसा न होने से गौण अर्थ में शब्द का विनियोग करना अयुक्त है। मुख्य और गौण दोनों प्रकार के अर्थों की उपस्थिति होने पर मुख्य अर्थ में ही कार्य-सम्पादन किया जाता है,—ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्शपूर्णमास में—यजमान द्वारा जिन देवताओं को आहुति दी गई है, उनसे आशीर्वाद लेने के लिए—कृतिपथ मन्त्र पठित हैं। उनमें पूषा और आदित्य के भी अनुमन्त्रण (आशीर्वाचन) मन्त्र पठित हैं। परन्तु दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवता आहुत नहीं हैं। तब उन मन्त्रों का वहाँ उत्कर्ष होगा, अर्थात् उन मन्त्रों का उपयोग वहाँ करना होगा, जहाँ दर्शपूर्णमास के विकृतियागों में पूषा आदि देवता आहुत हैं। यदि शब्द (वाह आदि) का विनियोग गौण अर्थ में भी माना जाता है, तो इन मन्त्रों का उत्कर्ष नहीं करना पड़ेगा। तब 'पूषा' आदि पद पुष्टि आदि अर्थ को अभिव्यक्त करते हुए गौणी वृत्ति से अग्नि आदि देवताओं को ही कहेंगे, जो दर्शपूर्णमास में आहुत है। इसलिए गौण अर्थ में भी वचन का विनियोग मानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥२॥

[संस्कारकत्वात्] पूषा आदि देवता-सम्बन्धी अनुमन्त्रण मन्त्र देवता के स्मरणरूप संस्कार के जनक होने से [अचोदिते] अविहित याग में उनका विनियोग [न स्यात्] नहीं होता।

पूषा आदि देवता दर्शपूर्णमास में आहुति के लिए विहित नहीं हैं। परन्तु वहाँ इनके आशीर्वाचन के लिए मन्त्र पठित हैं। ये मन्त्र इस बात का स्मरण कराते हैं कि पूषा आदि देवता यजमान द्वारा आहुति के लिए कहीं अवश्य पठित हैं। यदि ऐसा न हो, तो आशीर्वाचन निरर्थक होते हैं। इसलिए जहाँ विकृतियाग में पूषा आदि देवता आहुत हैं, वहाँ अनुमन्त्रण मन्त्रों का उत्कर्ष करना ही होगा। इनकी अर्थवत्ता वहीं है।

आचार्यों ने इन मन्त्रों (= आशीर्वाचनों) की संज्ञा 'इष्टानुमन्त्रण' अथवा 'यागानुमन्त्रण' कही है। पर दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवता 'इष्ट' नहीं है, तथा उनके लिए दर्शपूर्णमास में याग का विधान नहीं है, और मन्त्र में 'देवयज्यया' पद

१. द्रष्टव्य—काठक संहिता: (५।१), 'अग्नीषोमाभ्यां यज्ञश्चक्षुष्मांस्तयोरहं देवयज्यया चक्षुषा चक्षुष्मान् भूयासम्'। इसी प्रसंग में पूषा और आदित्य के अनुमन्त्रण मन्त्र हैं—'पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्। आदित्या अहं देवयज्यया प्रतिष्ठां गमेयम्' इत्यादि।

के सायर्थ्य से पूषा आदि का याग-सम्बन्ध बोधित होता है। इसलिए जहाँ विकृति-यागों में पूषा आदि देवताओं के लिए याग का विधान हो, वहाँ इन मन्त्रों (आशीर्वाचनों) का उत्कर्ष उपयुक्त है। इसी में इनकी सार्थकता है, इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। इस अधिकरण का निर्णय मीमांसा में 'बहिन्ध्याय' नाम से व्यवहृत होता है ॥२॥ (इति लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाज्घिकरणम्—१)।

(इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाज्घिकरणम्—२)

अग्निचयन-प्रसंग में पाठ है—'निवेशनः संगमनो वसूनाम्—इति ऐन्द्रघा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' [मैत्रा० सं० ३।२।४]—'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है, अर्थात् समीप स्थिर होकर उसका स्तवन करता है। यद्यपि स्तवनकर्ता का ईप्सिततम होने से उपस्थान का कर्म गार्हपत्य अग्नि है, उसी का स्तवन प्राप्त है, पर इन्द्रदेवता-वाली ऋचा से अग्नि का स्तवन सम्भव नहीं। इस आधार पर शिष्य जिज्ञासा करता है—

यहाँ इन्द्र का स्तवन होना युक्त है? अथवा गार्हपत्य अग्नि का? प्रतीत होता है, मन्त्र का देवता इन्द्र होने से इन्द्र का स्तवन होना चाहिए, गार्हपत्य अग्नि का नहीं। उपस्थान का कर्म कारण होने से गार्हपत्य अग्नि का स्तवन होना चाहिए, यह कथन कुछ बल नहीं रखता; क्योंकि कर्ता का ईप्सिततम ही कर्म-कारक हो, ऐसा कोई निर्वाचनियम नहीं है। ईप्सित की अविवक्षा होने, अनीप्सित कारक में भी पाणिनि-नियम [१।४।५०] के अनुसार द्वितीया विभक्ति देखी जाती है। 'विषं भक्षयामि', 'चौरान् पश्यति' आदि ऐसे ही सर्वस्वीकृत प्रयोग हैं। विष मारक होने से तथा चोर हिंसक व लुटेरा होने से कर्ता के ईप्सित अर्थ नहीं हैं। यहाँ विभक्ति कारक-सम्बन्धमात्र को प्रकट करती है, जैसे 'सक्तून् जुहोति' [तं० सं० ३।३।८] वाक्य में द्वितीया विभक्ति तृतीय 'सक्तुभिर्जुहोति' के अर्थ में प्रयुक्त है। ऐसे ही 'गार्हपत्यम्' में द्वितीया विभक्ति तृतीया या सप्तमी के अर्थ में समझनी चाहिए—गार्हपत्य के साथ अथवा गार्हपत्य के समीप बैठकर इन्द्र का स्तवन करता है। इन्द्र पद का मुख्यार्थ इन्द्र देवता ग्रहण करने पर उससे गार्हपत्य अग्नि का कथन न होने से गार्हपत्य का 'गृह सम्बन्धी' ऐसा गौण अर्थ करना होगा। गृहपति-सम्बन्धी इन्द्र देवता का स्तवन करता है, ऐसा समझना युक्त होगा।

अथवा गार्हपत्य शब्द यज्ञसाधनरूप सम्बन्ध से उपस्थान क्रिया का विशेषण होगा। गार्हपत्य यज्ञ का साधन है, इन्द्र देवता भी यज्ञ का साधन है। इस सम्बन्ध

से जहाँ गार्हपत्य है, अर्थात् जिस स्थान में गार्हपत्य अवस्थित है, वहाँ इन्द्र देवता का स्तवन करता है। इस प्रकार मन्त्र का मुख्य विधेय इन्द्र का उपस्थान करना होगा।

इस विवृत शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥

[तु] सूत्र का 'तु' पद जिज्ञासारूप से प्रस्तुत पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, पूर्व-अधिकरण-न्याय से प्राप्त ऐन्द्री का मुख्य अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। [वचनात्] 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वाक्य में द्वितीया विभक्ति के स्पष्ट कथन से [ऐन्द्री] इन्द्र देवतावाली ऋचा [अयथार्थम्] अयथा = असदृश = बाधित अर्थवाली [स्यात्] होती है, या है।

सूत्र में 'अयथार्थम्' पद क्रियाविशेषण है। तात्पर्य है—तथाकथित इन्द्र देवतावाली ऋचा में 'इन्द्र' पद अभिधावृत्ति से बोधित इन्द्र देवतारूप अर्थ को छोड़ देता है, अर्थात् मन्त्र में इन्द्र पद इन्द्र देवता का वाचक न होकर घात्वर्थ [इदि परमेश्वर्ये] के आधार पर 'परम ऐश्वर्यवाला' अर्थ का बोधक है, गार्हपत्य अग्नि के उ्वलनरूप विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य है—प्रदीप्त गार्हपत्य अग्नि का उक्त मन्त्र से स्तवन करे। यह तात्पर्य प्रस्तुत वचन 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' से स्पष्ट होता है। 'गार्हपत्यम्' पद में द्वितीया विभक्ति उसकी प्रधानता का साक्षात् निर्देश करती है। इस वचन-सामर्थ्य से उपस्थान = स्तवन गार्हपत्य अग्नि का किया जाता है ॥३॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—पहले कहा कि इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का स्तवन अयुक्त है। यदि कहा जाय कि उक्त वचन [= ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते] सामर्थ्य से ऐसा हो जायगा, तो यह सर्वथा असम्भव है; क्योंकि 'इन्द्र' पद 'अग्नि' अर्थ को कहे, यह नितान्त विरुद्ध होगा। वह ऐसा ही होगा, जैसे कोई कहे—अग्नि से सींचता है, जल से काष्ठ प्रज्वलित करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, वह किसी शास्त्रीय वचन से बदल नहीं सकता। उक्त वाक्य शब्दार्थ-सम्बन्ध का विधायक नहीं है कि गार्हपत्य का इन्द्र नाम है। यह वाक्य केवल इतना कहता है कि इन्द्र पद से गार्हपत्य का उपस्थान करे। पर अन्य अर्थ के वाचक पद से किसी अन्य अर्थ का कथन नहीं किया जा सकता। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद 'इन्द्र' शब्द से गार्हपत्य अग्नि का कथन नहीं होगा। इस पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। [गुणात्] गुण से [अपि] भी [अभिधानम्]

कथन [स्थात्] होता है। [सम्बन्धस्य] शब्दार्थ-सम्बन्ध के [अशास्त्रहेतुत्वात्] शास्त्रनिमित्तक न होने से; तात्पर्य है—शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य है, शास्त्र उसमें बाधक नहीं।

‘ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ यह वाक्य यद्यपि इन्द्र पद का गार्हपत्य अग्नि के लिए प्रयोग किये जाने का विधायक नहीं है, फिर भी इन्द्र पद से गार्हपत्य अग्नि का कथन किया जा सकता है। इन्द्र पद अभिधा शक्ति से इन्द्र देवता का वाचक होने पर भी गुण के संयोग से गार्हपत्य अग्नि को कहेगा। गुण के संयोग से भी कथन होता है। ज्वलनशील अग्नि के तेजस्विता गुण का सादृश्य माणवक में देखे जाने से ‘अग्नि’ पद माणवक के लिए प्रयुक्त होता है—‘अग्निर्माणवकः’। ऐसे ही गार्हपत्य अग्नि के लिए इन्द्र पद का प्रयोग होगा। जैसे इन्द्र यज्ञ का साधन है, ऐसे ही गार्हपत्य अग्नि यज्ञ का साधन है। इस यज्ञसाधनरूप सादृश्य गुण से इन्द्र पद अग्नि को कहेगा।

अथवा परम ऐश्वर्य अर्थवाली ‘इदि’ धातु से इन्द्र पद की निष्पत्ति होने से—जो परम ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र है, ऐसा ईश्वरत्व—अपने कार्य में गार्हपत्य अग्नि का भी है। इसलिए जो अर्थ इन्द्र पद से बोधित होता है, वह गार्हपत्य अग्नि में होने से इन्द्र पद उसका बोध करायेगा। फलतः यज्ञसाधन-सादृश्य से अथवा ऐश्वर्य-सम्बन्ध से इन्द्र पद गार्हपत्य अग्नि का बोध करायेगा। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से इन्द्र पद का यह मुख्य अर्थ न होकर गौण अर्थ होगा।

यह ध्यान देने की बात है, ‘निवेशनः संगमनो वसूनाम्’ ऋचा में ‘इन्द्र’ पद देवताविशेष का वाचक है, वह देवता अग्नि से भिन्न है। फिर भी उस ऋचा से अग्नि का उपस्थान—स्तवन किया जाता है, तो यह विनियोग स्पष्टतः अयथार्थ है। तात्पर्य है, ऋचा जिस अर्थ का प्रतिपादन कर रही है, यह विनियोग उसके प्रतिकूल है। ब्राह्मण [ऐत० ६।४; गोपथ २।२।६] वचनों के अनुसार यज्ञ की यथार्थता इसी बात में है कि ऋचा आदि जिस अर्थ को कहें, उसी के अनुसार क्रियमाण कर्म का अनुष्ठान होना चाहिए। किसी सीमा तक निरुक्तकार यास्क [७।२०] एवं शकपूणि आदि आचार्यों तथा मीमांसक याज्ञिकों ने गौण विनियोग को स्वीकार किया है, जैसा कि प्रस्तुत प्रसंग में माना गया। पर कालान्तर में ऐसे अयथार्थ विनियोग की ऐसी बाढ़ आई कि पद या वर्ण की समानता पर ही मन्त्रों का विनियोग किया जाने लगा; जिसे देखकर कतिपय विचारकों को उस काल में ही मन्त्रों को निरर्थक कहना पड़ा। एक प्रकार से उनका कहना ठीक ही था। इस रूप में मन्त्रों का विनियोग विनियोक्ताओं की

अज्ञानता के कारण सर्वथा उपहासास्पद बन गया है।^१ याज्ञिक मीमांसकों को इस पर ध्यान देना चाहिए ॥३॥ (इति इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाधिकरणम्—२)

प्रस्तुत अधिकरण में किये गये विवेचन के आधार पर मीमांसा में 'गार्हपत्यन्वाय' प्रचलित है।

(आह्वानप्रकाशकमन्त्राणां आह्वाने विनियोगाऽधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—'हविष्कृदेहीति त्रिरवध्वन् आह्वयति'—'हविष्कृदेहि' [यजु० १।१५] इस मन्त्र से—अवघात करता हुआ तीन बार बुलाता है। घान का छिलका उतारने के लिए घान कूटने के समय अध्वर्यु उक्त मन्त्र झोलकर यजमान-पत्नी को तीन बार बुलाता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या इस मन्त्र का विनियोग अवघात-कर्म (घान के वितुषीकरण) में है? अथवा अवहननकाल को लक्षित कर आह्वान में है? यह सन्देह है। यदि अवघात-कर्म में विनियोग है, तो श्रुति (हविष्कृदेहि) उपकृत होती है—हे हविष्कृत्! आओ! हवि को तैयार करनेवाले आओ! हवि का तैयार करना घान का वितुषीकरण करना है, वही अवहनन है। श्रुति उसी का निर्देश कर रही है। इसलिए अवहनन में विनियोग मानने से श्रुति उपकृत होगी। यदि आह्वान में विनियोग माना जाता है, तो 'अवध्वन्' में लक्षणा करनी होगी। यह पद अपने अभिघान-बोध्य अर्थ अवहनन को न कहकर अवहनन-काल को कहेगा। उक्त मन्त्र से अवहनन-काल में आह्वान करता है। 'त्रिः' पद का सम्बन्ध पहले पक्ष में 'अवध्वन्' के साथ, तथा दूसरे पक्ष में आह्वान के साथ होगा। श्रुति का उपकारक होने से यहाँ प्रथम पक्ष मान्य होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तथाऽऽह्वानमपीति चेत् ॥५॥

जैसे गत अधिकरण में ऐन्द्री ऋच गौणी वृत्ति से गार्हपत्य अग्नि में विनियुक्त मानी गई है, [तथा] वैसे ही गौणी वृत्ति से [आह्वानमपि] आह्वान—'एहि' पदवाली 'हविष्कृदेहि' ऋचा भी अवहनन के प्रति विनियुक्त मानी जानी चाहिए। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह—(इतना भाग अगले सूत्र से सम्बद्ध है)। 'हविष्कृदेहि' मन्त्र में 'हविष्कृत्'-पद कर्त्तृसाधन है—हे हविष्कृत्! हवि को करनेवाले, 'एहि' आओ। यह अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ है। पर गत अधिकरण में

१. द्रष्टव्य—मीमांसा आवरभाष्य, हिन्दी व्याख्या-सहित, तृतीय भाग, [३।२।४] पृष्ठ ७२० का टिप्पणी-भाग। (यु० मी०)

किये गये निर्णय के अनुसार गौणी वृत्ति से यह पद हविःसाधनमात्र का, अर्थात् केवल अवघात का बोध करायेगा। गुण है—यागसाधनता। हवि याग का साधन है, और वह अवहनन द्वारा तैयार होता है। इसलिए 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवहनन में करना चाहिए, आह्वान में नहीं। अन्यथा 'अवघ्नन्' में लक्षणा करनी होगी ॥५॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥

[न] 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवघात (बिदूषीकरण = कूटना) में नहीं है। [कालविधिः] अवहनन-काल का विधायक है [चोदितत्वात्] 'त्रिः आह्वयति' से त्रित्व का विधान होने के कारण।

'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवहनन में नहीं है। 'अवघ्नन्' पद लक्षणावृत्ति से अवहनन-काल का बोधक है, 'अवहनन' का नहीं, क्योंकि 'त्रिः आह्वयति' पदों से वहाँ त्रित्व का विधान किया गया है, तीन बार बुलाता है। घान कूटने के समय अध्वर्यु यज्ञमान-पत्नी को 'हविष्कृदेहि' मन्त्रोच्चारण करते हुए तीन बार बुलाता है। यह मुख्य विधि तीन बार आह्वान करने की है। 'अवघ्नन्' पद केवल अवहनन-काल का बोध कराता है। 'श्रीहीनबहन्ति' से अवहनन विहित है, यहाँ उसका अनुवादमात्र है। आह्वान और अवहनन दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद होगा। 'त्रिः' पद अवघ्नन् से अन्वित नहीं है, जिससे यह अर्थ हो कि इस प्रकार अवघात करता हुआ बुलाता है। 'त्रिः' पद 'आह्वयति' के साथ अन्वित है—तीन बार बुलाता है। इस योजना में वाक्य-भेद नहीं होता; क्योंकि अवहनन-काल में ही अवहनन-प्रयोजन से हविष्कृत् का तीन बार आह्वान किया जाता है। अतः आह्वानमात्र का विधान है, अवहनन का नहीं। अवहनन अनुवाद है; मन्त्र को तीन बार आवृत्ति का विधान है।

'अवघ्नन्' पद में लक्षणावृत्ति से 'अवहनन-काल' का बोध कराना कोई दोष नहीं। लक्षणावृत्ति से अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य पदों में स्वीकार किया गया है। अवहनन क्योंकि अन्य वाक्य—'श्रीहीनबहन्ति' से कथित है, वह घाल को लक्षित कर सकता है। इसलिए मन्त्र का विनियोग आह्वान में करना चाहिए ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'हविष्कृदेहि' मन्त्र अवघात को सम्बोधित करता है, यह क्यों न माना जाय ? हे हविष्कृत् ! हवि सम्पन्न करनेवाले अवहनन ! 'एहि' आ, अपने सम्पन्न रूप में हो जा। अवघात से हवि = आहवनीय द्रव्य सम्पन्न होता है। गौणी वृत्ति से उसे सम्बोधन किया जा सकता है ॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाभावात् ॥७॥

गत सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। [गुणाभावात्] अवहनन में गौण कथन सम्भव न होने से [न] मन्त्र का विनियोग अवहनन में नहीं है।

'हविष्कृदेहि' मन्त्र में 'हविष्कृत्' सम्बुद्धि पद कर्तृसाधन है। हवि तैयार करनेवाले को बुलाया जाता है। वह जानता है—'मैं बुलाया गया हूँ'। यह सम्बोधन—अवहनन-क्रिया के अचेतन होने के कारण—उसे गौणी वृत्ति से भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अवघात यह नहीं जानता कि 'मैं बुलाया गया हूँ'। तब उसे बुलाने के लिए सम्बोधन निरर्थक हो जाता है। अगत्या उसे अदृष्टार्थ मानना होगा। दृष्टार्थ की सम्भावना में अदृष्ट की कल्पना अन्याय्य मानी गई है। घान कूटने के द्वारा हवि को तैयार करनेवाली यजमान-पत्नी में आह्वान दृष्टार्थ है। इसलिए मन्त्र का विनियोग अवघात में सम्भव न होने से आह्वान में समझना चाहिए ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गाच्च ॥८॥

[लिङ्गात्] लिङ्ग से [च] भी 'हविष्कृत्' पद यजमानपत्नी को कहता है। प्रस्तुत पद में 'हविष्कृत्' पद से यजमान-पत्नी विवक्षित है, इस अर्थ की पुष्टि में लिङ्ग-सादृश्य भी कारण है। 'हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन् आह्वयति' वाक्य के अनन्तर पाठ आता है—'वाग् बं हविष्कृत्, वाचमेवैतद् आह्वयति'—वाक् ही हविष्कृत् है, वाक् को ही यह बुलाता है। इस अवहनन के साथ वाक् का कोई सादृश्य नहीं है। यजमान-पत्नी के साथ वाक् का सादृश्य है—दोनों का स्त्रीलिंग होता। पत्नी स्त्री है, वाक् स्त्रीलिङ्ग है। अवहन्ति न स्त्री है, न पुमान् और न नपुंसकलिङ्ग। यह कहना भी ठीक न होगा कि अवहन्ति या अवहनन का भी स्त्रीलिङ्ग-पद 'क्रिया' है। क्योंकि अवहनन स्वरूपतः नियत स्त्रीलिङ्ग नहीं है। अवहनन को क्रिया होने के आधार पर स्त्रीलिंग कहा जाय, तो इस प्रकार उसका पुल्लिङ्ग पद भी है—अवघात; नपुंसकलिङ्ग भी है—कर्म। पर वाक् का पत्नी के साथ स्वरूपतः सादृश्य है। अवहन्ति का पररूप-क्रिया पद से सादृश्य है। इसलिए पत्नीरूप हविष्कृत् में लिङ्ग की पूर्ण अनुरूपता है।

यद्यपि गत पंक्तियों में सिद्धान्त-पक्ष से जैसे अवहन्ति के नियमतः स्त्रीलिङ्ग-पद का प्रतिषेध करते हुए उसके पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग पदों का निर्देश किया है, वैसे ही पत्नी पद का पुल्लिङ्ग पद 'दारा' और नपुंसकलिङ्ग 'कलत्र' पद कहे जा सकते हैं; परन्तु यह कथन वस्तुतः संगत नहीं है। क्योंकि दारा-कलत्र आदि पद भार्या-जाया आदि के पर्याय हैं, पत्नी के वाचक नहीं हैं। पत्नी पद का

साधुत्व—‘पत्युर्नो यज्ञसंयोगे’ [४।१।३३] इस पाणिनि-नियम के अनुसार—यज्ञसंयोग में ही माना गया है। इसलिए यज्ञ-प्रसंगों में सर्वत्र केवल पत्नी पद का प्रयोग होता है; जाया, भार्या, कलत्र, द्वारा आदि का नहीं ॥८॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य सहायक हेतु प्रस्तुत करता है—

विधिकोपशचोपदेशे स्यात् ॥९॥

[उपदेशो] ‘हविष्कृदेहि’ मन्त्र का अवहनन में उपदेश = विनियोग मानने पर [विधिकोपः] अन्य विधि का विरोध [च] भी [स्यात्] होता है।

यदि ‘हविष्कृदेहि’ मन्त्र का अवहनन में विनियोग बताया जाता है, तो अन्यत्र अवहनन में जिन मन्त्रों का विनियोग बताया गया है, उनके साथ इसका विरोध होगा। भाष्यकार शबर स्वामी ने अवहनन में विनियोग के लिए बताया—‘अपहृतं रक्ष इत्यवहन्ति, अपहृता यातुधाना इत्यवहन्ति’ इन वाक्यों के अनुसार ‘अपहृतं रक्षः’ [यजु० १।९; १६] अथवा ‘अपहृता यातुधानाः’ मन्त्रों का विनियोग अवहनन में विहित है। यदि ‘हविष्कृदेहि’ मन्त्र को भी अवघात में विनियुक्त माना जाय, तो इस विधि के साथ उसका विरोध होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि अवहनन में विनियोग के लिए दो मन्त्रों का उल्लेख किया गया। इससे इनमें विकल्प प्राप्त होता है। उस दशा में नित्यवत् प्रतीयमान ‘हविष्कृदेहि’ श्रुति बाधित होगी, निरवकाश हो जायगी। विनियोग का अवसर न भिन्नने पर वह निरर्थक होगी। इस कारण भी ‘हविष्कृदेहि’ का विनियोग अवहनन न मानकर आह्वान में मानना चाहिए।

अथवा सूत्रार्थ निम्न प्रकार करना चाहिए—‘हविष्कृदेहीति अवघ्नन् आह्वयति’ वाक्य में ‘अवघ्नन्’ पद ‘शतृ’-प्रत्ययान्त है। पाणिनि-विधान ‘लक्षणहेत्वोः क्रियायाः’ [३।२।१२६] के अनुसार ‘शतृ’ और शानच् प्रत्यय लक्षण और हेतु अर्थ में होते हैं, जब लक्षण और हेतु क्रिन्याविषयक हों। काशिका में ‘शानच्’ प्रत्यय का लौकिक उदाहरण दिया है—‘शयाना मुञ्जते यवनाः’^{१२} यहाँ शानच्-प्रत्ययान्त

१. ये दोनों वाक्य वैदिक वाङ्मय में कहीं उपलब्ध नहीं हैं। ‘अपहृता यातुधानाः’ इस आनुपूर्वीवाला मन्त्र चारों वेदों में नहीं है। ‘अपहृता असुराः’ ऐसा पाठ उपलब्ध है—[बाजसनेयि-माध्यन्दिन शाखा = यजु० २।२६; काण्वशाखा-२।५४]; कृष्ण यजुःसंहिता अन्वेष्य है।

२. ऐसा प्रतीत होता है, काशिकाकार ने यह उदाहरण मुस्लिम वर्ग के रमजान महीने को लक्ष्य कर लिखा गया है। उस मास में समस्त मुस्लिम वर्ग रात्रि-उत्तरकाल के चार बजने से पहले-पहले खाना खा लेता है। उसे प्रान्तीय लोकभाषा में ‘सरगई खाना’ कह्ना जाता है। इस उदाहरण में ‘शयानाः’ पद

'शी' धातु अपने मुख्य अर्थ शयन को छोड़कर गौणी वृत्ति शयनकाल को लक्षित करती है। यवन सोने के समय में खाते हैं। तात्पर्य है—जो सोने का समय है, उस समय खाना खाते हैं। इसी प्रकार यहाँ वैदिक उदाहरण में शतृप्रत्ययान्त 'अवधन्न्' पद अपने मुख्य अर्थ अवहनन को छोड़कर अवहननकाल को लक्षित करता है। 'हविष्कुदेहि' मन्त्र का विनियोग आह्वान में है। इसके विपरीत यदि मन्त्र का विनियोग अवहनन में कहा जाता है, तो वह अवहननकाल को लक्षित नहीं कर सकता। उस दशा में लक्ष्य पाणिनि-विधान बाधित होगा। उसके साथ विरोध न हो, इसलिए मन्त्र का विनियोग आह्वान में ही मानना चाहिए ॥६॥ (इति आह्वानप्रकाशकमन्त्राणाम् आह्वाने विनियोगाधिकरणम्—३)।

(अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव
विनियोगाधिकरणम्—४)

✓सोमयाग के ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पाठ है—'उत्तिष्ठन्नन्वाह अग्नीदग्नीन् विहर।' अध्वर्यु खड़ा होता हुआ कहता है—हे अग्नीन् ! अग्नियों को विहरण करो। आगे पाठ है—'व्रतं कृणुत इति वाचं विमृजति'—व्रत ग्रहण करो, ऐसा कहता हुआ वाक् का विसर्जन करता है।

गार्हपत्य ने अग्नि को लेकर आह्वनीय और दक्षिणाग्नि में पहुँचाना अग्नि-विहरण है। अध्वर्यु खड़े होकर अग्नीन् को सम्बोधित कर अग्निविहरण के लिए प्रेरित करता है। यजमान दीक्षित हो जाने पर वाणी का संयम करे, मौन रहे, यज्ञ-सम्बन्धी वाक्-व्यवहार के अतिरिक्त अन्य वाग्व्यापार न करे, ऐसा विधान है। उस अवस्था में यह एक तप है। सूत्रग्रन्थों में कहीं सुयस्ति होने पर तथा कहीं तक्षत्र उदय होने पर वाक्संयम का निर्देश है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का विनियोग अध्वर्यु के उत्थान में है? अथवा अग्निविहरण में? इसी प्रकार 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का विनियोग वाग्विसर्जन में है? अथवा व्रतकरण में? आचार्य सूत्रकार ने गत अधिकरण का अतिदेश करते हुए समाधान किया—

वा 'लेटे हुए खाना' अर्थ नहीं समझना चाहिए। लेटे हुए अन्य भी कोई खा सकता है, वह लक्षण न होगा। भाष्यकार पतञ्जलि ने 'तिष्ठन्मूत्रयति, यच्छन् भक्षयति' उदाहरण दिए हैं। तत्त्वान्वाख्यान (वास्तविकता का कथन) में उदाहरण—'शयाना वर्द्धते दुर्वा' दिया है। यहाँ भी 'शयाना' पद का अर्थ पूर्वोक्त ही है। यह जागृप्सिद्ध बात है कि दूब घास रात में बढ़ती है। यह स्वाभाविक है। दिन में पशु आदि चरते रहते हैं, रात में ही उसे बढ़ने का अवसर मिलता है।

तथोत्थानविसर्जने ॥१०॥

गत अधिकरण में 'अवघ्नन्' = अवहनन अपने मुख्यार्थ को, अवहननकाल को लक्षित करता है; और 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का मुख्यार्थ आह्वान में विनियोग है; [तथा] उसी प्रकार [उत्थानविसर्जने] उत्थान और वाग्विसर्जन अपने मुख्य अर्थ को छोड़ उत्थानकाल और वाग्विसर्जनकाल को लक्षित करते हैं; तथा 'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का अपने मुख्य अर्थ अग्निविहरण में, तथा 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का अपने मुख्य अर्थ व्रतकरण में विनियोग है।

इस प्रकार 'उत्तिष्ठन्' में तथा 'वाचं विसृजति' में उपयुक्त अर्थाभिव्यक्ति के लिए लक्षणावृत्ति का स्वीकार करना युक्त है।

जिस प्रकार अध्वर्यु की उत्थान-क्रिया से अग्नि लाना और उसे दीप्त करना संकेतित हो जाता है, उसी प्रकार वाग्विसर्जन से व्रतकरण चोतित हो जाता है; उत्थान एवं वाग्विसर्जन में ही मन्त्र का विनियोग बताया जाता है, तो यह केवल अदृष्टार्थ रह जाता है। दृष्टार्थ की सम्भावना में अदृष्टार्थ की कल्पना को आचार्यों ने अमान्य बताया है। अतः 'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का अग्निविहरण में विनियोग मानने से उसका अग्निविहरण दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। इसी प्रकार 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का व्रतकरण में विनियोग मानकर व्रतकरण (दुग्धदोहन आदि) दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। अतः उत्थान और वाग्विसर्जन को गौण मानकर अग्निविहरण और व्रतकरण मुख्य अर्थ में मन्त्रों का विनियोग मानना संगत है ॥१०॥ (इति अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाधिकरणम्—४)।

(सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताधिकरणम्—५)

दर्श-पूर्णमास में पाठ है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।५।१०] में सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र पठित है। उसका प्रारम्भिक भाग है, 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्। अधर्म सूक्तवाकम्। उत नमो वाकम्' इत्यादि। अंतिम भाग है—'उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्याताम्। इह गतिर्वामस्येदं च। नमो देवेभ्यः।' यह ब्राह्मणपठित सन्दर्भ 'सूक्तवाक' कहा जाता है। 'प्रस्तर' उस दर्भगुण्टिका का नाम है, जो वेदि में जुहूपात्र के नीचे बिछाई जाती है। पहले नंगी भूमि पर पूर्व की ओर घास का अग्रभाग कर बिछाया जाता है। उसके ऊपर घास के दो तिनके आड़े (उत्तर-दक्षिण) रखे जाते हैं। उसके ऊपर जितनी जगह में जुहूपात्र रखना है, वहाँ पूर्व की ओर ही रख करके दूब घास बिछायी जाती है। उसी का नाम 'प्रस्तर' है। होता सूक्तवाक मन्त्र का पाठ करता है, अध्वर्यु उस प्रस्तर को पूर्वाग्र (घास का अग्रभाग) पूर्व की ओर रखते हुए आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। इसी का नाम 'प्रस्तर-प्रहरण' है। यह

कार्य दर्श-पूर्णमास के अन्त में किया जाता है।

इस प्रसंग में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या सूक्तवाक का विनियोग प्रस्तर-प्रहरण में है? अथवा यह केवल काल को लक्षित करता है? यदि विनियोग है, तो सूक्तवाक पद अपने मुख्यार्थ को कहेगा। यदि ऐसा नहीं, तो सूक्तवाक में लक्षणा करनी होगी। 'सूक्तवाकेन' इस तृतीयान्त पद के निर्देश से यहाँ लक्षणा मानना युक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥

[सूक्तवाके] 'सूक्तवाकेन प्रस्तर प्रहरति' वाक्य में 'सूक्तवाकेन' इस तृतीयान्त निर्देश से [च] निश्चित [कालविधिः] यहाँ काल का विधान किया जाना मानना चाहिए, [परार्थत्वात्] सूक्तवाक और प्रस्तर के परार्थ होने से।

सूक्तवाक का पाठ देवता की स्तुति के लिए किया जाता है; उसका वही प्रयोजन होने से वह परार्थ है। वह प्रस्तर-प्रहरण के कथन में अशक्त होगा। इसलिए उसका अङ्ग नहीं हो सकता। प्रस्तर भी परार्थ है, क्योंकि वह जुहु के धारण करने के लिए है, उसका वही प्रयोजन है। अतः वह सूक्तवाक का अङ्गी नहीं बन सकता। जो दो कार्य परार्थ होते हैं, उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए सूक्तवाक में लक्षणा मानना युक्त होगा। सूक्तवाक पद स्वार्थ को छोड़कर सूक्तवाक-पाठ के काल को लक्षित करता है। फलतः जिस समय होता सूक्तवाक का पाठ करे, तब अध्वर्यु प्रस्तर का अग्नि में प्रक्षेप करे,— इतना ही इस वाक्य का तात्पर्य है। सूक्तवाक और प्रस्तर का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष-निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'सूक्तवाकेन' यह तृतीयान्त निर्देश काल को लक्षित करता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत [उपदेशः] 'सूक्तवाकेन' पद में करणवाचक तृतीया विभक्ति का निर्देश—सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तरप्रहरण के प्रति अङ्ग है, इस तथ्य का द्योतक है। तात्पर्य है—सूक्तवाक मन्त्र का विनियोग प्रस्तरप्रहरण में है, [हि] क्योंकि [याज्याशब्दः] सूक्तवाक के लिए 'सूक्तवाक एव याज्या' वचन में याज्या शब्द का प्रयोग [अकस्मात्] बिना कारण [न] नहीं है; प्रत्युत सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तरप्रहरण का अङ्ग है, इस बात का दोषक है।

'सूक्तवाकेन' पद में तृतीया विभक्ति-निर्देश सूक्तवाक-पाठ के काल को

लक्षित न कर प्रस्तरप्रहरण में अङ्गता को बोधित करता है। तृतीया विभक्ति करण—साधन अर्थ में होती है। प्रस्तरप्रहरण में साधन है सूक्तवाक मन्त्र 'सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तर का प्रहरण करे'। इस प्रकार प्रस्तरप्रहरण के प्रति इसे सूक्तवाक-मन्त्र की विधि मानने पर, सूक्तवाक के लिए याज्या शब्द का प्रयोग उपपन्न होता है। वहाँ लेख है—'सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः'—सूक्तवाक याज्या है, प्रस्तर आहुति है। तात्पर्य है—सूक्तवाक मन्त्र को पढ़कर प्रस्तर—दर्ममुष्टि का आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप करे। इस प्रकार सूक्तवाक-मन्त्र और प्रस्तर-आहुति का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव स्पष्ट है।

यहाँ लक्षणावृत्ति से अर्थबोधन की कल्पना अनावश्यक है; क्योंकि लक्षणा-वृत्ति का आश्रय वहाँ लेना पड़ता है, जहाँ वाक्य का अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ उप-पन्न न होता हो, और प्रसंग से उसका उपयुक्त सम्बन्ध न बनता हो। उक्त विवरण के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है, अतः यहाँ लक्षणा की कल्पना निराधार है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अभी बताया गया कि सूक्तवाक मन्त्र देवता-संकीर्तन के लिए होने से परार्थ है, वह प्रस्तरप्रहरण में असमर्थ होगा; तथा प्रस्तर भी जुह्वारण के लिए होने से परार्थ है। इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध सम्भव नहीं। इस जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥

[सः] वह सूक्तवाक मन्त्र [देवतार्थः] देवता के संकीर्तन के लिए होता हुआ देवता का संग्राहक है, [तत्संयोगात्] साधनरूप में सूक्तवाक के समान देवता का भी याग के साथ नियत सम्बन्ध होने के कारण।

सूक्तवाक मन्त्र देवता के संकीर्तन के साथ, अर्थात् उसको भी साथ लेकर प्रस्तर-आहुति का अङ्ग है। प्रस्तर हवि है, आहुति है, इसलिए यागरूप है। 'सूक्तवाकेन' तृतीयानिर्देश जैसे साधनरूप में सूक्तवाक मन्त्र को प्रस्तर-आहुति के अङ्गरूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही देवता को प्रस्तुत करता है। देवता उससे बाहर नहीं रहता। जिस प्रकरण में सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तर-हवि-आहुति का विधान है, वहाँ आगे यह भी उल्लेख है—'अग्निरिदं हविरजुषता वीवृधत' अग्नि-देवता ने इस प्रस्तर-हवि का प्रीति से सेवन किया और बढ़ा। इस प्रकार देवता-सम्बन्ध का उपक्रम कर उन कामनाओं का निर्देश है, जिनकी पूर्ति को यागानुष्ठान के फलरूप में देवता से चाहता है। इस अन्तिम प्रस्तर-आहुति के अनन्तर यजमान को कामना को कल्याणकारी देव सम्पन्न करे—'यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्'। इस प्रकार सूक्तवाक-वाक्य देवता-संकीर्तन पर ही समाप्त न होकर यजमान-कामनाओं के सफलता-निर्देश पर पूरा होता है। इससे देवतासंकीर्तन

और यजमान की कामना-फलप्राप्ति में सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह सूक्तवाक के प्रस्तरप्रहरण में विनियोग को प्रमाणित करता है। इस मान्यता की स्वीकार करने पर 'अग्निरिदं हविरजुषत्' वाक्य में 'इदं हविः' पदों से समीप-पठित प्रस्तर-हवि का निर्देश मानना भी उपपन्न होता है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—देवतासंकीर्तन-परार्थता का समाधान तो किया गया, पर प्रस्तर की जुहूधारण-परार्थता के विषय में कुछ नहीं कहा गया, तब इसे प्रतिपत्तिरूप कर्म ही क्यों न समझा जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रतिपत्तिरिति चेत् स्विष्टकृद् उभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥

[प्रतिपत्तिः] प्रस्तरप्रहरण केवल प्रतिपत्तिरूप संस्कार है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं। क्योंकि वह [स्विष्टकृद्] स्विष्टकृत् के समान [उभयसंस्कारः] अदृष्टार्थ और प्रतिपत्त्यर्थ दोनों प्रकार का संस्कार [स्यात्] है।

किसी श्रेष्ठ कार्य में उपयुक्त वस्तु को उपयोग के अनन्तर अन्य उत्तम स्थान में वस्तु का रखना 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार-कर्म कहा जाता है। जैसे किसी सम्मान्य व्यक्ति के सत्कार में पहनाई गई पुष्पमाला को उपयोग के अनन्तर कहीं इधर-उधर पाँव आदि में न फेंककर उचित स्थान में रख दिया जाता है, यह लोक-प्रसिद्ध 'प्रतिपत्ति' संस्कार-कर्म है। इसी प्रकार जो प्रस्तर-संज्ञक दर्ममुष्टि प्रधान कर्मानुष्ठान के अवसर पर जुहूपात्र के नीचे बिछाई गई, अब कर्म की समाप्ति पर उसका उपयोग हो चुका है। इसलिए अब उसका विधिपूर्वक अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार समझना चाहिए। इसे अदृष्टार्थ यागांश मानना आवश्यक नहीं।

सूत्रकार ने बताया—यह कथन अमान्य है। क्योंकि कभी एक ही कर्म उभयात्मक माना गया है। कर्म एक ही है—प्रस्तरप्रहरण। वह याग और प्रतिपत्ति उभयरूप संस्कार स्वीकार किया गया है। यागांश में उसका अदृष्ट प्रयोजन है, प्रस्तरप्रहरणरूप में प्रतिपत्ति प्रयोजन है। यह स्विष्टकृत् आहुति के समान है। याग के प्रयोजन से पुरोडाश हविद्रव्य तैयार किया जाता है। प्रधान आहुतियों के अनन्तर जो पुरोडाश बच जाता है, उसमें विधिवाक्य के अनुसार स्विष्टकृत् देवता के लिए आहुति दी जाती है। यह यागरूप है, अदृष्टार्थ है। पुरोडाश का अग्नि में प्रक्षेप प्रतिपत्तिरूप है। यह कर्म याग की समाप्ति पर होता है।

इसी प्रकार दश-पूर्णांश याग की समाप्ति पर जुहूपात्र के बिछीने दर्ममुष्टि-प्रस्तर का विधिवाक्यानुसार सूक्तवाक मन्त्र से अग्नि में आहुतिरूप प्रहरण (= त्याग) यागरूप है, अदृष्टार्थ है। याग की सम्पन्नता के लिए जुहू के बिछौने का उपयोग पूरा हो जाने पर उसका पवित्र अग्नि में प्रहरण प्रतिपत्तिरूप संस्कार समझना चाहिए। इस कर्म के उभयात्मक मानने में कोई बाधा नहीं है। उपयोग

के अनन्तर विहित स्थानान्तर में द्रव्य का त्याग प्रतिषत्तिरूप संस्कार दृष्टप्रयोजन है। 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वचन-सामर्थ्य से वह याग को सिद्ध करता है, यह अदृष्टार्थ है। फलतः सूक्तवाक मन्त्र का प्रस्तर-प्रहरण में विनियोग निश्चित होता है। इस अधिकरण के निर्णय के अनुसार शास्त्र में 'प्रस्तरप्रहरण-न्याय' व्यवहृत होता है। (इति सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताऽधिकरणम्—५)।

(सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम्—६)

दर्श-पूर्णमास-प्रसंग में पाठ है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या पूर्णमासी और अमावास्या दोनों में सम्पूर्ण सूक्तवाक का प्रयोग करना चाहिए? अथवा उसमें से छाँटकर प्रयोजनानुसार यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए? प्रतीत होता है, 'सूक्तवाकेन' इस वचन के अनुसार सम्पूर्ण मन्त्र का प्रयोग प्रत्येक पूर्वयाग में करना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के सुभाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥

[कृत्स्नोपदेशात्] 'सूक्तवाकेन' पद द्वारा पूरे मन्त्र का कथन होने से [उभयत्र] पूर्णमासी और अमावास्या दोनों पर्वों में [सर्ववचनम्] सम्पूर्ण मन्त्र पढ़ना चाहिए।

पूर्णमासी और अमावास्या दोनों पर्वों में सम्पूर्ण मन्त्र पढ़ना चाहिए, क्योंकि सूक्तवाक संज्ञा सम्पूर्ण मन्त्र की है। यदि उसमें से छाँटकर किसी अंश का प्रयोग करेंगे, तो वह सूक्तवाक मन्त्र न रहेगा। यदि विभिन्न कर्मसम्बन्धी पदों को छाँटकर अंशभूत पदों या वाक्यों का कर्मानुष्ठान में प्रयोग करना चाहेंगे, तो 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य बाधित होगा; एवं आंशिक पाठ से प्रस्तर-प्रहरण सम्भव न होगा, क्योंकि सूक्तवाक नाम सम्पूर्ण मन्त्र का है, उसके किसी एक अंश का नहीं। इसलिए दोनों पर्वों में सम्पूर्ण मन्त्र को पढ़ना युक्त प्रतीत होता है ॥१५॥

सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। किसी भी पर्व में सम्पूर्ण सूक्तवाक का पाठ नहीं करना चाहिए। [यथार्थम्] अर्थ—प्रयोजन के अनुसार पदों या वाक्यों को छाँटकर जहाँ जितने का उपयोग है, उतना प्रयोग करना चाहिए। [शेषभूतसंस्कारात्] दर्श-पूर्णमास के अङ्गभूत देवता के संस्कारक

होने से ।

सूक्तवाक मन्त्र में विभिन्न देवताओं के वाचक पद हैं । जो पौर्णमासी देवता के वाचक पद हैं, उनका प्रयोग पौर्णमासी में करना चाहिए; अमावास्या में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जो अमावास्या के देवतावाचक पद हैं, उनका प्रयोग अमावास्या में करना चाहिए; पौर्णमासी में नहीं। याग के अङ्गभूत अर्थ को संस्कारयुक्त करते हुए मन्त्र याग के उपकारक होते हैं; अन्य किसी प्रकार से उपकारक नहीं होते। अतः जो पद जहाँ उपकारक है, वहीं उसका प्रयोग उपयुक्त है। फलतः न पौर्णमासी में सम्पूर्ण सूक्तवाक पढ़ना चाहिए, न अमावास्या में। जो देवता पौर्णमासी के अथवा अमावास्या के नहीं हैं, उनके लिए उस अंश का पाठ व्यर्थ होगा, जो उस पर्व के देवता नहीं हैं ॥१६॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—

वचनादिति चेत् ॥१७॥

[वचनात्] 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वचन से सम्पूर्ण सूक्तवाक का दोनों पर्वों में प्रयोग माना जाना चाहिए। 'सूक्तवाक' पद में किसी एक अंश की वाच्यता नहीं है। वह सम्पूर्ण मन्त्र का वाचक है। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं; सूत्रकार ने अशिम सूत्र से समाधान किया—

प्रकरणाविभागाद् उभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥

[प्रकरणाविभागात्] पौर्णमासी और अमावास्या का प्रकरण एक होने से [उभे प्रति] दोनों—पौर्णमासी और अमावास्या—को मिलित रूप में लक्ष्य कर [कृत्स्नशब्दः] सूक्तवाक यह कृत्स्न शब्द है। तात्पर्य है—दोनों पर्वों को मिलाकर सूक्तवाक की सम्पूर्णता समझनी चाहिए।

पौर्णमासी और अमावास्या में देवतानिर्देश के अनुसार सूक्तवाक का उभयत्र आंशिक उपयोग होकर दोनों में वह सम्पूर्ण उपयुक्त हो जाता है। इसी आधार पर उसकी सम्पूर्णता समझनी चाहिए। सम्पूर्ण सन्दर्भ की सूक्तवाक संज्ञा है, उसका प्रत्येक अवयव भी सूक्तवाक-संज्ञक है। देवदत्त का एक देहावयव देवदत्त ही रहता है। उचित उपयोग के अवसर पर यज्ञदत्त नहीं हो जाता। जो अंश जिस देवता के संस्कार व स्तवन के लिए उपयुक्त है, उसका वहाँ पाठ होगा, शेष का नहीं।

शिष्य आशंका करता है—शास्त्रीय व्यवस्थानुसार ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि वाक्यांशों के विषय में यहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि अमुक वाक्य से ऐसा कार्य होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध प्रथम कर्म से रहता है। कर्मानुष्ठान की पद्धति ही इतिकर्तव्यता है।

यहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि अमुक वाक्यांश से अमुक कार्य करे। सामान्यरूप से पठित है कि सूक्तवाक से प्रस्तर-प्रहरण करता है। ऐसी स्थिति में इस वचन का आवर करते हुए पौर्णमासी और अमावास्या-कर्मों के भिन्न होने पर भी दोनों कर्मों में समस्त सूक्तवाक से प्रस्तर-प्रहरण कर्म होना चाहिए। पौर्णमासी याग में प्रस्तर-प्रहरण करते हुए यदि अमावास्या-निर्दिष्ट देवता वहाँ नहीं हैं, तो उतने अंश में सूक्तवाक-प्रयोग निरर्थक न होमा। उसका प्रयोजन अदृष्टजनकता कल्पना कर लेना चाहिए। वह देवता संस्कार-गुणविशेष से अदृष्ट का जनक होगा। अतः पौर्णमासी-अमावास्या दोनों में सम्पूर्ण सूक्तवाक का प्रयोग मानना चाहिए। इससे 'सूक्तवाकेन' पद अपने मुख्यार्थ को कहेगा। ऐसा न मानने पर 'सूक्तवाक' पद की 'सूक्तवाक वाक्यांश' में लक्षणा करनी होगी, जो अभीष्ट नहीं।

आचार्य ने समाधान किया—कदाचित् आपने पूर्वोक्त सूत्रार्थ को समझने की ओर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया। मन्त्र का कार्य मुख्य अर्थ का प्रकाशन करना है, गौण अर्थ का नहीं। सूक्तवाक के विभिन्न खण्ड विभिन्न देवताओं के संस्कार के लिए हैं। पौर्णमासी अनुष्ठान का प्रसंग होने पर—जो देवता वहाँ पठित नहीं हैं, उनके संस्कारक वाक्यखण्ड वहाँ अनुपयोगी हैं, तो उनका उत्कर्ष वहाँ न्याय्य है जहाँ उनका उपयोग है। तात्पर्य है, जो वाक्यखण्ड जिन देवताओं के संस्कार के लिए निर्दिष्ट हैं, उनका प्रयोग वहाँ होना चाहिए जहाँ वे देवता पठित हैं। इससे वाक्य अपने मुख्य अर्थ के अनुरूप वृष्टार्थ का प्रयोजक होता है। किसी कर्म के दृष्ट प्रयोजन की उपस्थिति में वाक्य के मुख्यार्थ की उपेक्षा करके गुणविशेष के आधार पर उससे अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना सर्वथा अन्याय्य होगी।

यह भी समझना चाहिए कि सम्पूर्ण सूक्तवाक कोई एक वाक्य नहीं है; वह अनेक वाक्यों के रूप में पठित है। उनके बीच प्रधान देवता के वाचक विशेष पद हैं; जैसे—अग्नि, द्यावापृथिवी, अग्नीषोम, प्रजापति, इन्द्राग्नि इत्यादि। उनके पहले-पीछे सामान्य पद हैं, जो अब देवताओं के विषय में साधारण हैं, जैसे—'इदम्, हविः, अजुषत, अबीवृषत' इत्यादि। ये सब पद 'सु'—अनुकूल 'उक्त' वचन होने से 'सूक्तवाक' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देवता के विषय में पठित वाक्य अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई है। उस लम्बे सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही एक देवताविषयक वाक्यखण्ड को लक्ष्य कर 'त्वं सूक्तवागसि' ऐसा कहा गया है, जो प्रत्येक देवताविषयक वाक्यखण्ड के साथ अनिर्दिष्ट समझना चाहिए। यह सम्पूर्ण पदसमुदाय न किसी एक अर्थ को कहता है, और न पूर्ण समुदाय के रूप में किसी अनुष्ठेय कार्य का साक्षात् साधन है। इसलिए सम्पूर्ण सन्दर्भ को एक इकाई के रूप में 'सूक्तवाक' समझना अयुक्त है। 'सूक्तवाकेन' आदि एक-वचन का प्रयोग उतने ही वाक्यखण्ड के एकत्व को प्रकट करता है, जितने से प्रस्तर-प्रहरण किया जाता है। इसीलिए जहाँ अमावास्या से सम्बद्ध देवतावाची